श्री जवाहर किरणावली ३१ वीं किरण

प्रकाशकः—श्री जवाहर साहित्य समिति
भीनासर (बीकानेर)

तृतीय संस्करण—संवत् २०३४, सन् १९७७
११०० प्रतियां
चतुर्थ संस्करण—संवत् २०४२, सन् १९८५
२२०० प्रतियां

मूल्यः—६-५०

मुद्रकः—
जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर—३३४००१

प्रकाशकीय निवेदन

श्री जवाहर किरणावली की इकतीसवीं किरण का चतुर्थ संस्करण पाठकों के कर-कमलों में अर्पित करते अतीव आनन्द हो रहा है। इस किरण में पूज्य श्री जवाहरलालजी म० के सम्यक्त्व सम्बन्धी प्रवचनों का संग्रह किया गया है और अहिंसाणुव्रत सम्वन्धी प्रवचनों का भी। विचार यह किया गया था कि सम्यक्त्व सहित गृहस्थ के बारहों व्रतों संबंधी प्रवचनों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया जाय किन्तु कई कारणों से वह सम्भव न हो सका।

व्रतों सम्बन्धी प्रवचन श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम से प्रकाशित हुए थे। वह कई अलग-अलग पुस्तिकाओं में थे। पाठकों के सुभीते के लिये इधर-उधर बिखरे तद्विषयक अन्यान्य विवेचन के साथ उन्हें भी संगृहीत रूप में प्रकाशित करने की अनेक साहित्य-प्रेमियों की मांग थी। इस प्रकाशन में कथा भाग को कम कर दिया गया है ताकि विस्तार कम हो जाय किन्तु व्रतों सम्वन्धी विवेचना ज्यों की त्यों रहे। आशा है, इस प्रयास से जिज्ञासु पाठकों को गृहस्थधर्म का समग्र मर्म समझने मे काफी सहूलियत होगी।

श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल का अब अस्तित्व नहीं रहा है, तथापि हम उसके प्रति कृतज्ञ है। वास्तव में

उसी के महत्त्वपूर्ण प्रयत्नो का यह सुफल है कि हम पूज्य श्री की अमर-वाणी पाठकों के समक्ष उपस्थित कर सके। इस दृष्टि से मण्डल का अस्तित्व सदैव रहेगा। आशा है, पाठकगण इन प्रवचनो से, जो गृहस्थधर्म पर अपूर्व प्रकाश डालने वाले हैं, पूरा-पूरा लाभ उठाएगे।

आजकल कागज-छपाई आदि व्यय काफी बढ जाने से इस सस्करण को लागत कीमत भी बढ़ानी पड़ी है।

प्रकाशन कार्य मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ और उसके द्वारा सचालित जैन आर्ट प्रेस का समिति को पूरा सहयोग रहता है, एतदर्थ समिति की ओर से वे धन्यवाद के पात्र हैं।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्रीमती राजकुंवर बाई मालू, बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिए प्रदत्त धनराशि से इस चतुर्थ सस्करण का प्रकाशन हुआ है। सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए बहिनजी की अनन्य निष्ठा चिर-स्मरणीय रहेगी।

निवेदक—

मत्री

श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (राज०)

विषय-सूची

अहिंसाणुव्रत

सम्यक्त्व

१–सम्यक्त्व का महत्त्व

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ।

जैन–शास्त्रो मे तीन रत्न प्रसिद्ध हैं, उन्हे 'रत्नत्रय' भी कहते हैं, मगर सम्यक्त्व–रत्न उन तीनो में प्रधान है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन रत्न हैं । पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही है । सम्यग्दर्शन की मौजूदगी मे ही ज्ञान और चारित्र मे सम्यक्ता आती है । जहा सम्यग्दर्शन नहीं, वहा सम्यग्ज्ञान भी नही और सम्यक् चारित्र भी नही । सम्यग्दर्शनहीन ज्ञान और चारित्र मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं ।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नही कर सकते । उनसे भव–भ्रमण का अन्त नही हो सकता । यही नही, वे भव–भ्रमण के ही कारण होते हैं । कहा है—

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम् ।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे मिथ्यात्वविषदूषिते ।।

सम्यग्दर्शन कदाचित् विशिष्ट ज्ञान और चारित्र से रहित हो, तब भी वह प्रशंसनीय है। उससे ससार विपरीत हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व के विष से विषैले विपुल ज्ञान और चारित्र का होना प्रशंसनीय नहीं है।

सम्यक्त्व से बढ कर आत्मा का अन्य कोई मित्र नहीं है। मित्र का काम अहित मार्ग से हटा कर मनुष्य को हित-मार्ग में लगाना है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व ही सबसे बडा मित्र है। जब आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है। उसे हित अहित का विवेक हो जाता है। जब तक जीव मिथ्यात्व की दशा में रहता है तब तक तो वह हित को अहित और अहित को हित समझता रहता है और उसी के अनुसार विपरीत प्रवृत्ति भी करता रहता है किन्तु सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही दृष्टि का विभ्रम हट जाता है और आत्मा को सत्य तत्त्व की उपलब्धि होने लगती है। वह हेय—उपादेय को समीचीन रूप में समझने लगता है। इस प्रकार हित-मार्ग में प्रवृत्ति कराने के कारण और अहित-मार्ग से बचाने के कारण सम्यक्त्व परम मित्र है।

सम्यक्त्व अनुपम बन्धु है। बन्धु का अर्थ है सहायक। जब आत्मा अपने कल्याणपथ मे प्रवृत्ति करने के लिए उद्यत होता है, तो सम्यत्व ही सर्वप्रथम उसका सहायक होता है। अन्य सहायको की सहायता से जो सफलता मिलती है, वह क्षणिक होती है और कभी—कभी उसमें असफलता छिपी

रहती है; परन्तु सम्यक्त्व रूप सहायक के सहयोग से मिलने वाली सफलता चिरस्थायी होती हैं और उसके उदर में असफलता नहीं होती ।

संसार में, विषय–कषाय के अधीन होकर जीव नाना प्रकार के पदार्थों की कामना करते हैं, मनुष्य जिनकी कामना करते हैं, वे पदार्थ इष्ट कहलाते हैं और उनके लाभ को वे परम लाभ समझते हैं। किन्तु उन प्राप्त हुए पदार्थों की वास्तविकता पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उन पदार्थों से आत्मा का किंचित् भी कल्याण नहीं होता। यही नहीं, वरन् वे पदार्थ कभी-कभी तो आत्मा का घोर अनिष्ट साधन करने वाले होते हैं । ऐसी स्थिति में सहज ही समझा जा सकता है कि सम्यक्त्व के लाभ से बढ कर ससार मे और कोई लाभ नही है । सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही तीव्रतम लोभ और आसक्ति का अन्त कर देता है और फिर धीरे-धीरे आत्मा को उस उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है कि जहां किसी भी सांसारिक पदार्थ के लाभ को आकाक्षा ही नही रहती, आवश्यकता ही नहीं रहती !

सम्यक्त्व मोक्ष मार्ग का प्रथम साधन कहा गया है । जब तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसका समस्त आचरण, समस्त क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान नगण्य हैं । आत्म-कल्याण की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नही है । कहा है—

ध्यानं दुखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम्;
स्वाध्यायोऽपिहि वन्ध्य एव कुधियां तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः ।

अश्लाध्या खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,

सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडुः ।।

सम्यक्त्व के अभाव में जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्म–कल्याण की दृष्टि से व्यर्थ ही होती है। ध्यान दुःख का निधान होता है, तप केवल सताप का जनक होता है, मिथ्या-दृष्टि का स्वाध्याय निरर्थक है, उसके अभि–ग्रह मिथ्या आग्रह-मात्र हैं। उसके दान, शील तीर्थाटन आदि सभी कुछ नगण्य हैं–निष्फल हैं। वे मोक्ष का कारण नहीं होते हैं।

जिस सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है, उसकी प्रशसा कहां तक की जा सकती है? प्राचीन ग्रन्थकारो ने उत्तम से उत्तम शब्दों में सम्यक्त्व की महिमा गाई है। यहां तक कहा गया है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।

पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ।।

जिसका अन्त करण मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है और जिसकी चेतना सम्यक्त्व से निर्मल है, वह पशु हो तो भी मनुष्य के समान है।

मनुष्य और पशु में विवेक ही प्रधान विभाजन रेखा है और सच्चा विवेक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर ही आता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है। वह दिव्य ज्योति जब अन्तर में जगमगाने लगती है तो अनादिकाल से आत्मा पर छाया हुआ अन्धकार नष्ट हो जाता है। उस दिव्य ज्योति के प्राप्त होने पर आत्मा अपूर्व

आनन्द का अनुभव करने लगती है। उस आनन्द को न शब्दो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न उपमा के द्वारा ही उस आनन्द की आंशिक तुलना किसी जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त हो जानें पर होने वाले आनन्द के साथ की जा सकती है। जो मनुष्य जन्म-काल से ही अन्धा है और जिसने संसार के किसी पदार्थ को अपने नेत्रो से नही देखा है, उसे पुण्य-योग से कदाचित् दिखाई देने लगे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा ? हम तो उस आनन्द की कल्पना मात्र कर सकते हैं। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा मे समता के अदभुत रस का संचार कर देती है, तीव्रतम राग-द्वेष के सताप को शात कर देती है और इस कारण आत्मा अप्राप्त-पूर्व शान्ति के निर्मल सरोवर मे अवगाहन करने लगती है।

सम्यग्दृष्टि के विषय मे शास्त्र में कहा है—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

— श्री आचारांग सूत्र

अर्थात्--सम्यग्दृष्टि पाप नही करता है। चौथे गुण-स्थान से लगा कर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हैं और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नही करता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पाप कर्मों का बध रुक जाता है। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नही रह पाते और जब अनन्तानुबधी क्रोध आदि नही रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण बन्धने वाले) पाप-कर्म नही बधते। इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति

होती है। कारण ही न होगा तो कार्य कैसे होगा ? कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्धन भी होता है। संसार मे मिथ्यात्व किस कारण से है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिए मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नहीं टिक सकता। जिसे जेल में जाने की इच्छा नहीं होगी, वह जेल में जाने के कार्य नहीं करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पडेगा। यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पड़े, मगर इस प्रकार जेल जाने वालों के लिये जेल, जेल नही वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल मे भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिये। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें वह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनतानुबन्धी कषाय जाय तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नही रह जाता, तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को

पर्याप्त लाभ नही पहुंचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्व-प्रथम शरीर मे से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा मे मिथ्यात्व-रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की आराधना नहीं कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटा कर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुवन्धो क्रोध, मान माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नही रहेगा और जब मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्म-श्रद्धा से विचलित नही कर सकेगा। इतना ही नहीं किन्तु जैसे अग्नि मे घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है, उसी प्रकार धर्म-श्रद्धा से विचलित करने का ज्यो-ज्यो प्रयत्न किया जायगा त्यो-त्यो धर्म-श्रद्धा अधिक दृढ और तेज-पूर्ण होती जायगी। धर्मश्रद्धा मे किस प्रकार दृढ रहना चाहिये, इस विषय मे कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया गया है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भाव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

२—सम्यक्त्व का स्वरूप

संसार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं।

मिथ्या-दृष्टि कोई नही रहना चाहता। किसी को मिथ्या-दृष्टि कहा जाय तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि' रहना चाहते हैं और वास्तव में यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिये कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है। यद्यपि सच्चा सम्यक्त्व अविपरीतता मे ही है पर शास्त्रकार यशस्वी कार्य भी समकित मे ही गिने है।

विपरीत का अर्थ उल्टा और अविपरीत का अर्थ सीधा-जैसे का तैसा, होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में देखना अविपरीतता है। उदाहरणार्थ—किसी ने सीप देखी। वास्तव मे वह सीप है, फिर भी अगर उसे चादी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड मे विचरते समय मैंने मृगमरीचिका देखी। वह ऐसी दिखाई देती थी मानो जल से भरा हुआ समुद्र हो। उसमे वृक्ष वगैरह की पर-छाई भी दिखाई देती है। ऐसा होने पर भी मृगमरीचिका को जल समझ लेना विपरीतता है।

जैसे यह विपरीतता बाह्य-पदार्थों के विषय मे है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय मे भी विपरीतता होती है। शास्त्रोक्त वचन समझ कर जो सम्यग्दृष्टि होगा वह विचार करेगा कि अगर मैंने वस्तु का जैसा का तैसा स्वरूप न समझा तो फिर मैं सम्यग्दृष्टि ही कैसा?

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमा हट देखकर चादी समझ ली जाती है। अगर उसके पास

जाकर देखे तो क्या कोई सीप को चादी मान सकता है ? नहीं। इसी प्रकार ससार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे जाते हैं. तब तक वे जिस रूप मे माने जाते हैं उसी रूप मे दिखाई देते हैं, किन्तु अगर पदार्थो के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वे ऐसे नहीं प्रतीत होगे, बल्कि एक जुदे रूप मे दिखाई देंगे। जब पदार्थों की वास्तविकता समझ मे आ जायगी तब उनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विपरीतता मिट जायगी। जब पदार्थों की वास्तविकता का भान होता है और विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्दृष्टिपन प्रकट होता है। सीप दूर से चांदी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप में सीप-पन तो पहले ही मौजूद था, परन्तु दूरी के कारण ही सीप मे विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चांदी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता जान पडने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भली-भाति परीक्षण करने से वस्तु के विषय मे ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती है और तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाति अन्य पदार्थों के विषय में भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थों के विषय में विपरीतता हो रही है इस विषय मे शास्त्र मे कहा है—'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना' 'अर्थात् जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना, इत्यादि दस प्रकार के मिथ्यात्व हैं। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि

जीव को अजीव मानने वाले बहुत से लोग है। कुछ का कहना है कि जो कुछ है, यह शरीर ही है। शरीर से भिन्न आत्मा नही है। यह पाच भूतो से बना है और जब पांचों भूतों का संयोग नष्ट हो जाता है तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव–आत्मा को न मानने वाले भी हैं। यह भी एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु है यह मिथ्याज्ञान। जीव मे अजीव की स्थापना करने का कारण यही है कि ऐसी स्थापना करने वाले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर है। जब वे सम्यज्ञान के समीप आएगे तो जैसे समीप जाने से सीप मे चांदी का मिथ्याज्ञान मिट जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्या-ज्ञान भी मिट जायगा। उस समय उन्हे आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नही हुए है, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रग मे रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तीत्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप चादी मान ली जाती है, उसी प्रकार जीवतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते हैं। अगर वे जीवतत्त्व के निकट पहुचे तो उन्हें प्रतीत होगा कि वे भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नही है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ—अधेरे में रस्सी साप जान पडती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि सांप का अस्तित्व है। सांप का कही अस्तित्व न होता तो सांप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है

वही मृग-जल में जल की कल्पना कर सकता है; जिसने कभी कहीं जल का अनुभव नहीं किया वह मृग-जल देख कर जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहां से आता और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों थी ?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि ससार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदो के वाच्य-पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता है मगर जिस पद में समास नहीं होता उस पद का वाच्य अवश्य होता हैं। 'आत्मा' पद समास-रहित है अत. उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिये। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता हैं। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग, शब्दो को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनो ही जगत् में विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नही होता, उसी प्रकार 'आकाश-पुष्प' भी नही होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनो समस्त-समासयुक्त पद अलग अलग कर दिये जायें तो दोनो का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जितने भी समास-रहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समास रहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोडा, घट-पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों

का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ—कुछ लोगो का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। यहां उदाहरण में बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारो घड़ों मे दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घडों में पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सब में दिखाई देगा। अगर एक ही आत्मा चन्द्रमा की तरह सब शरीरों में व्याप्त होती तो जो विविधता दिखाई देती है वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान् दिखाई देता है, कोई बुद्धि-हीन। कोई दुखी है, कोई सुखी है। अगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यों दिखाई देती ?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीतता-भ्रांति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते हैं कि निश्चय में सभी का आत्मा समान है। परन्तु व्यवहार करते समय मानो यह बात भुला ही दी जाती है। 'मित्ती में सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियो पर मेरा मैत्री-भाव है इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीब दुखी

या भिखारी द्वार पर आता है तब इस सिद्धान्त का पालन कितना होता है, यह देखना चाहिये। तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दुखी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौड़े जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिये प्रयत्न न करो तो कहा जायगा कि अभी तुम्हारे अन्त.करण में सच्चा करुणा-भाव उत्पन्न नही हुआ है। तुम्हारे हृदय में सम्यक्त्व होगा तो सब की रक्षा करने का द-ा भाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नहीं कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नही है तो उसे यही कहा जायगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नही है! इसी प्रकार जिसमें चिकनापन नही है वह घी ही नहीं है। वह और कोई चीज होगी। इसी प्रकार हृदय में दयाभाव न हो तो यही कहा जायगा कि सम्यक्त्व प्राप्त नही हुआ है। जिसमें सम्यक्त्व होगा, उसमें दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी सम्बन्ध है।

३—दर्शनसम्पन्नता

गौतम स्वामी ने दर्शन के विषय में भगवान् से प्रश्न किया है—

प्रश्न—दंसणसपन्नयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्ताछेयण करेइ, परं न विज्झायइ, परं अविज्झमाणे अणुत्तरेणं नाणदसणेण अप्पाणं सजोएमाणे सम्म भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

अर्थात्

प्रश्न—भगवान् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम! दर्शनसम्पन्न (सम्यग्दृष्टि) जीव ससार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नही है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को सयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा में रक्खे हुए दीपक के बुझ जाने का भय रहता है उसी प्रकार क्षयोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिये यह भय नही है। इसी कारण भगवान् ने अपने उत्तर में 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय ही नही रहता। दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

संसार-भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। ससार भ्रमणरूप कार्य ा कारण मिथ्यात्व है। दर्शनसम्पन्नता मिथ्यात्व का नाश

करती है और कारण के अभाव में कार्य किस प्रकार हो सकता है ? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व का छेद हो जाने से ससार-भ्रमण भी नहीं करना पड़ता ।

मिथ्यात्व संसार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है या भव-स्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव मे केवल-ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नहीं होता । क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति, आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञानदर्शन में रमण करता है ।

४—सम्यक्त्व के भेद

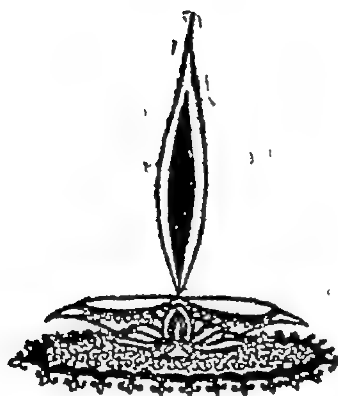
सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—(१) उपशम गुणो से प्राप्त होने वाला (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३' क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व । इन तीनो प्रकार के सम्यक्त्वो मे कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण दे कर समझाई जाती है । एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मल नीचे जम गया है । दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमे

मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलिन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नही है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक में शान्त हो किन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनों से शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय दोनो से पृथक् हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश मे अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

शास्त्रों मे श्रावक के लिए बारह व्रतो का विधान है। वे व्रत तो पालन करने योग्य है ही, परन्तु उनका मूल सम्यक्त्व है। जैसे मूल के अभाव मे शाखाए नहीं ठहरतीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव मे व्रत नही ठहरते।

कल्पना कीजिए, एक आदमी सिर पर जरीदार पगड़ी पहने है, रेशमी कोट पहने है और यथोचित आभूषण भी पहने है, पूरी तरह शृंगार से सजा है, मगर धोती न पहने हो—नंगा हो तो क्या उसका शृंगार भला दिखाई देगा ? नही। तो जिस प्रकार ससार में सर्व-प्रथम धोती पहनना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार धर्म में सर्व-प्रथम सम्यक्त्व का होना नितान्त आवश्यक समझा जाता है।

शास्त्रकार कहते हैं—श्रावक का व्रतो के बिना तो काम चल भी सकता है लेकिन सम्यक्त्व के बिना नही चल सकता, क्योकि जिसमे व्रत नही हैं, वह भी श्रावक कहला सकता है, परन्तु जिसमें सम्यक्त्व नही है, वह श्रावक नही कहला सकता ।



श्रावक और श्रमणोपासक



१-श्रावक की व्याख्या

जैन परम्परा में श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आम तौर पर जैन गृहस्थ के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति जैनकुल में उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढ़ि-सी हो गई है। मगर श्रावक कहलाने वाले पर कुछ दायित्व है उसके कुछ कर्त्तव्य भी हैं, इस ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। अतएव यहा श्रावक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। कहा है—

श्रध्दालुतां श्राति शृणोति शासनम्।
दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्।
तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

'श्रावक' शब्द में तीन अक्षर हैं और उन तीनों से श्रावक के अलग-अलग कर्त्तव्यों का बोध होता है। पहले अक्षर 'श्रा' से यह अभिप्राय निकलता है कि श्रावक को जिन वचन मे दृढ श्रद्धा धारण करनी चाहिए और साधु समाचारी, श्रावकसमाचारी और तीर्थंकर भगवान् की वाणी को श्रवण करना चाहिए।

साधु की समाचारी सुने विना गुरु का निर्णय नहीं हो सकता और श्रावक की समाचारी सुने बिना अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नही हो सकता। समाचारी का अर्थ है-कर्त्तव्य कार्य। साधु और श्रावक के शास्त्रविहित कर्त्तव्यों को श्रद्धा के साथ सुनना श्रावक-शब्द में रहे हुए 'श्रा' अक्षर का अर्थ है।

सुनना दो प्रकार का है-एक श्रद्धापूर्वक और दूसरा मनोरजन के लिए या दुष्ट बुद्धि से प्रेरित होकर। अर्थात् एक गुणदृष्टि से और दूसरा दोष-दृष्टि से। दोष दृष्टि से सुनने वाला यह सोच कर सुनता है कि देखूं, वक्त कहां चूकता है? कहा पकड मे आता है? इस प्रकार दोष खोजने की बुद्धि से सुनना श्रावक का कर्त्तव्य नहीं है। श्रावक तो श्रद्धाशील होकर, विश्वास पूर्वक सुनता है। यह ठीक है कि श्रावक अपनी बुद्धि और विचारशक्ति पर ताला लगा कर सुनने नहीं बैठता। अगर कोई बात उसे शास्त्रसंगत प्रतीत न हो तो वह तर्क-वितर्क करेगा और बिना समझे बूझे नही मान लेगा, फिर भी उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषण करने की नही होगी। वह इस अभिप्राय से सुनने नहीं बैठेगा।

साधु पहले अपनी समाचारी श्रावकों को सुना देगा और कहेगा कि इसे शास्त्र से मिला लो। फिर हमें साधु मानो। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं,उज्जाणम्मि समोसढं ।।
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिआ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ।।

दश. वै. अ. ६, १-२

अर्थात् ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा संयम, और तप में निरत आचार्य जब किसी नगर के उद्यान में पधारते हैं तो राजा राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय आदि पूछते हैं कि आपका आचार क्या है ?

आज आचार-विचार को पूछने की प्रथा उठ गई है। इस कारण साधुओं में भी शिथिलता आ गई है और जब साधु ही अपनी समाचारी का दृढतापूर्वक पालन न करेंगे तो श्रावक कब करेंगे ? फिर किसी पर किसी का दबाव नहीं रहेगा। स्थिति यह आ जायेगी कि साधु मौज करेंगे और गृहस्थों को मंत्र-तंत्र आदि बतला दिया करेंगे तथा गृहस्थ भी मंत्र-तन्त्र पाने की इच्छा से ही उनकी भक्ति करेंगे। फिर तो यही उक्ति चरितार्थ होगी—

लोभी गुरु लालची चेला, हिलमिल खेलें दाव।
दोनों डूबें बापडे, चढ़ पत्थर की नाव ।।

आचार की सिद्धि से ही धर्म की सिद्धि होती है, यह सर्वमान्य बात है। अतएव समाचारी का सुनना आवश्यक है। साधु-समाचारी शास्त्रानुमोदित होने पर श्रावक को श्रद्धाशील बनना चाहिए और यह निश्चय करना चाहिये कि यह हमारे गुरु हैं। हमारे गुरु वही बनने योग्य हैं जो शास्त्रविहित समाचारी को हमारे सामने खोलकर रख देते हैं और उसी के अनुसार आचरण करते हैं। तात्पर्य है कि श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह साधुसमाचारी एवं श्रावकसमाचारी का श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और वीतराग की वाणी पर सम्पूर्ण श्रद्धा रक्खे।

'श्रावक' शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है। इसका अभिप्राय है—पुण्य-कार्य में, बिना विलम्ब किये, दान दे और अपने दर्शन को दिपावे।

आज लोग प्रायः अपना बड़प्पन दिखलाने के लिए और अपने बाप-दादा की एवं अपनी कीर्त्ति और प्रसिद्धि के लिए तो द्रव्य खर्च कर देते हैं, किन्तु जब किसी धार्मिक कार्य के लिए द्रव्य का त्याग करने का अवसर आता है तो कहने लगते हैं-यह मेरे अकेले का काम नहीं है। सब करें तो मैं भी करूं। मैं अकेला ही क्यों खर्च करूं? इस प्रकार कहना और करना श्रावकपन का लक्षण नही है। श्रावक को उत्साहपूर्वक जिनधर्म की महिमा बढानी चाहिए और उसके लिए आवश्यकतानुसार द्रव्य की ममता का भी त्याग करना चाहिए। यही 'व' अक्षर का अर्थ है।

'श्रावक' शब्द मे तीसरा अक्षर 'क' है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक पाप को काटे अर्थात् अधर्म में प्रवृत्ति

न करे और ऐसा यत्न करे, जिससे शुभ कार्य हो सकें और व्रत तथा संयम निभ सकें।

'श्रावक' शब्द के तीनों अक्षरों मे समाविष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने वाला सुविहित श्रावक कहलाता है यानी तीर्थंकर की आज्ञा पालने वाला श्रावक कहलाता है। वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने वाला होता है।

कहा जा सकता है कि धर्म से परलोक में सुख मिलता है, वह तो ठीक है, परन्तु इहलोक मे सुख मिलता है, यह कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तप-संयम आदि धर्म का आचरण शुद्ध आत्मकल्याण की भावना से ही करना चाहिए, न इस लोक के सुख के लोभ से और न परलोक के सुख की लालसा से। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म से इस लोक या परलोक में सुख नही मिलता। ऐसा कोई नियम नही कि सुख की लालसा से धर्माचरण किया जाय तो सुख प्राप्त हो और सुख की लालसा न रक्खी जाय तो सुख न मिले। बल्कि सुख की लालसा रखने से धर्म का लोकोत्तर फल मारा जाता है। जो कार्य किया जायगा, उसका फल तो मिलने वाला है ही फिर उसके उत्कृष्ट फल का विघात करके साधारण फल की कामना करने से क्या लाभ है ? तात्पर्य यह है कि धर्माचरण लौकिक सुख की कामना से प्रेरित होकर न किया जाय, फिर भी उससे लौकिक सुख प्राप्त होता है, यह सत्य है,

भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आया है। वहा वे लोग भगवान की वन्दना करने के लिए जाने का सकल्प करते हैं। उस समय यह कथन है—

भगवान् को की गई वन्दना हमारे लिए इस लोक मे तथा परलोक में हितकारी, सुखकारी, क्षमा के योग्य बनाने वाली और मोक्ष देवे वाली होगी तथा भव-भव में साथ चलने वाली होगी।

इस पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक धर्म का पालन करने से लौकिक और लोकोत्तर-दोनो प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है।

२ श्रमणोपासक की व्याख्या

श्रावक के लिए 'श्रमणोपासक' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। श्रमणोपासक बनने की मर्यादा क्या है, यह बात शास्त्र मे बतलाई गई है। शास्त्र में कहा है—

'तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमई, सम्मत्त उवसपज्जइ, नो से कप्पइ अज्जपभिइ अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाइ अरिहन्तचेइयाणि वा वन्दित्तए वा, नमसित्तए वा।

इस पाठ का ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए 'श्रमण' शब्द का अर्थ समझ लेवे की आवश्यकता है। यो तो श्रमण का साधारण अर्थ साधु है, परन्तु दुनिया मे साधु कहलाने वालो के सैकड़ो प्रकार देखे जाते हैं। प्राचीन काल मे भी सैकड़ो प्रकार के साधु थे और आज भी है। अतएव

'साधु' कह देने से किसी निश्चित अर्थ का बोध नही होता। लोग गड़बड़ और भ्रम मे पड़ जाते हैं। अतएव शास्त्र में श्रमण या साधु की भलीभांति पहचान भी बतला दी गई है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि पचयामिक धर्म का अर्थात् पांच महाव्रतों का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहला सकता है। वे पाच महाव्रत इस प्रकार हैं:—

१—प्राणातिपात का सर्वथा त्याग।

२—असत्य का सर्वथा त्याग।

३—अदत्तादान का सर्वथा त्याग।

४—मनुष्य, देव और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोग का सर्वथा त्याग।

५—धर्मोपकरणो के सिवाय अन्य सब पदार्थों का त्याग।

इस प्रकार मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से पांचो पापों का त्याग करने वाला श्रमण पद का अधिकारी है।

साथ ही—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

उत्तराध्ययन, अ. १९.

अर्थात्-भिक्षा के लाभ में और अलाभ मे, सुख मे और दुःख मे, जीवन और मरण मे, निन्दा और प्रशसा में

तथा मान और अपमान मे साधु का समभाव होता है।

साधु किसी भी परिस्थिति मे समभाव को त्याग कर विषम भाव मे प्रवेश नही करता। भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय उसकी जैसी आकृति होती है, वैसी ही बाहर निकलते समय भी। अर्थात् भिक्षा मिल गई तो हर्ष नहीं और न मिली तथा भिक्षा के बदले गाली मिली तो विषाद नही। शरीर चाहे सुख मे हो या दु ख में हो, श्रमण अपने आनन्द मे मग्न रहता है। चिरकाल तक जीवित रहे तब भी आनन्द और मृत्यु आ जाय तब भी आनन्द। वे न जीने की इच्छा रखते है, न मृत्यु से घबराते हैं। उनके लिए निन्दा और प्रशसा समान हैं। वे प्रशसा सुन कर हर्ष का और निन्दा सुनकर विषाद का अनुभव नहीं करते। कोई सत्कार करे तो क्या और तिरस्कार करे तो क्या, उनकी वृति मे कुछ अन्तर नही पडता। ऐसे गुण जिसमें पाये जाए, वही श्रमण कहलाता है और श्रमण का उपासक 'श्रमणोपासक' या श्रावक कहलाता है।

'श्रमण' शब्द श्रम' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। यह शब्द इस आशय को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही श्रम द्वारा कर सकता है। व्यक्ति अपने सुख दुःख और उत्थान-पतन के लिए स्वय ही उत्तरदायी है। कोई भी दूसरा व्यक्ति या कोई भी शक्ति किसी दूसरे को सुखी या दुखी नही बना सकती।

प्राकृत रूप 'समण' का अर्थ 'समन' भी होता है। 'समन' का अर्थ है समता भाव। अर्थात् समान (समण-

श्रमण वह है, जो प्राणी मात्र को आत्मवत् समझता है। कहा है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्–जो व्यवहार या वर्ताव तुम अपने लिए पसन्द नही करते हो, वह दूसरो के प्रति भी मत करो। जो बात तुम्हे बुरी लगती है, वह सभी प्राणियों को बुरी लगती है।

यह नीति–तत्त्व जिसके जीवन में व्यावहारिक बन गया है, वही वास्तव में श्रमण या समन पद का अधिकारी है। यह नीति-तत्त्व ही समाज विज्ञान का मूल आधार है। वही समाज सुख और शान्ति का भागी हो सकता है, जिसका प्रत्येक सदस्य इस तत्त्व का अपने जीवन में अनुसरण करता है।

'समण' का तीसरा रूप 'शमन' भी होता है। 'शमन' का अर्थ है-अपनी चित्तवृत्तियो को शान्त करना, मन के विकारों को दबाना या दूर करना।

गंभीर विचार करने से ज्ञात होगा कि व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम और शम, इन तीनो तत्त्वो पर आश्रित है। यही श्रमण-संस्कृति का निचोड़ है। और भी कहा है—

जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

'अण' धातु वर्ताव करने के अर्थ में है और 'सम्' उपसर्ग तुल्यार्थक है। तात्पर्य यह हुआ कि जो सब प्राणियो

के प्रति सम अर्थात् समानरूप से 'अणति' अर्थात् वर्त्ताव करता है, वह समण या श्रमण कहलाता है।

णत्थि य से कोइ वेसो, पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२॥

अर्थात् श्रमण वह है जिसके लिए न तो कोई अप्रिय है और न प्रिय है जिसके लिए कीड़ो और कुंजर सब समान हैं।

तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥३॥

अर्थात्—जो 'समन' है, वही वास्तव में श्रमण है। 'सुमन' से अभिप्राय यह है कि वह पाप मना न हो—उसके मन के किसी भी कोने में पाप का वास न हो और स्व तथा पर जन में तथा मान और अपमान में समान भाव रखता हो।

भगवान् महावीर ने श्रमण की जो परिभाषा बतलाई है, उसी से मिलती-जुलती परिभाषा तथागत बुद्ध ने भी बतलाई है। वे कहते हैं:—

न वि मुंडएण समणो, समयाए समणो होई।
न मुंडकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति।
तो च समेति पापानि, अणुथूलानि सब्बसो।
समितत्ताहि पापानं, समणो त्ति पवुच्चई॥

आशय यही है कि सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नही कहलाता, बल्कि समताभाव धारण करने से ही श्रमण का पद प्राप्त किया जा सकता है जो व्रतविहीन है मिथ्याभाषण करता है, कामनाओं से और लोभ से घिरा हुआ है, वह श्रमण नही कहला सकता। सच्चा श्रमण वही है, जो छोटे और बड़े समस्त पापों से दूर हट जाता है।

इन गुणों को समझ लेने मात्र से न कोई विशिष्ट लाभ होता है और न कोई श्रमण ही कहला सकता है। इन्हें समझकर जो आचरण मे लाता है, वही इन गुणों का पूरा लाभ उठाता है और वही श्रमण कहलाने का अधिकारी होता है। किसी कन्या को उसकी माता ने रसोई बनाना सिखला दिया, पर कन्या सीखी हुई रसोई बनाने की विधि को कार्य रूप में परिणत न कर सकी तो सीखी हुई विधि किस काम की ?

श्रमणोपासक श्रमण को उपासना इसलिए करता है कि श्रमण मे समभाव है, उच्च आचार है और श्रमणोपासक इन गुणो को प्राप्त करना चाहता है। उपासक मे उपास्य का गुण आ ही जाता है। अतएव जो समभाव चाहते होंगे, वे समभाव वाले श्रमण को नमस्कार करेंगे और जिन्हे धन-दौलत आदि विषमभाव की कामना होगी, वे यंत्र-मंत्र आदि बतलाने वाले की उपासना करेंगे। लेकिन यंत्र-मंत्र बतलाने वाले की उपासना करने वाला श्रमणोपासक नही, वह तो मायोपासक है।

प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है। बिना उद्देश्य कोई बुद्धिमान प्रवृत्ति नही करता। घर से आप

बिना उद्देश्य निकल पड़ें और इधर-उधर भटकते फिरें, किसी के पूछने पर कोई उद्देश्य न बतला सकें तो बावले समझे जाएंगे। इसलिए जो जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे कुछ न कुछ उद्देश्य रखना ही पड़ता है और जो जैसा उद्देश्य रखता है, उसे आगे-पीछे सफलता भी प्रायः मिल ही जाती है। भाजी लाने के उद्देश्य से घर से निकला व्यक्ति भाजी तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार अगर आप समभाव रखने वाले गुरु के पास पहुंचने के उद्देश्य से निकले हैं तो ऐसे गुरु को खोज ही लेंगे।

आप कहेंगे संत तो कंचन कंकर को समान समझते हैं और हम ऐसा नहीं समझते, हमें कंचन की चाह बनी है। फिर संतो की उपासना क्यों करें ? ऐसा सोचने वाला और कहने वाला सच्चा श्रावक नहीं है। सच्चे श्रावक के अन्तःकरण में श्रमणोचित समभाव की आकांक्षा रहती है और वह ऐसा मनोरथ किया करता है कि कब वह सुदिन होगा जब मैं संसार के प्रपंच छोड़कर अनगारवृत्ति धारण करूंगा। अभिप्राय यह है कि आखिर तो श्रावक भी उसी ध्येय पर पहुंचना चाहता है जिसकी यह भावना होगी कि "मैं कभी न कभी सोने और पत्थर को समान समझूं" वह ऐसे सन्तों की उपासना करेगा।

श्रावक, व्यक्ति या वेष का उपासक नहीं होता, किन्तु साधुता का उपासक होता है। अतएव उसे 'श्रमणोपासक' कहा है।

कहा जा सकता है कि श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहने के बदले 'अर्हन्तोपासक' क्यों नहीं कह दिया ? साधुओं

की परीक्षा में तो कदाचित गड़बड़ भी हो सकती है। यदि अर्हन्तोपासक कह दिया होता तो किसी प्रकार का झगड़ा ही न रहता।

इसका उत्तर यह है कि उपास्य प्रत्यक्ष हो तो ही उसकी उपासना हो सकती है। उपास्य और उपासक के मिलने पर ही उपासना संभव है। तीर्थंकर कहलाने वाले अर्हन्त चौबीस ही होते हैं और वे किसी काल में विद्यमान रहते हैं और किसी काल मे विद्यमान नही रहते। मगर साधु के विषय मे यह बात नही है। श्रावक है तो साधु भी है और साधु है तो श्रावक भी है। साधु और श्रावक का साहचर्य है।

इस प्रकार अर्हन्त की साक्षात् उपासना सदा नहीं हो सकती, क्योंकि अर्हन्त सदा काल नहीं रहते और जब तक साक्षात् उपासना न की जाय तब तक ठीक-ठीक अर्थ मे वह उपासक नहीं है। पर श्रावक, साधु की उपासना सदैव कर सकते हैं। इसी कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा है। इसीलिए सम्यक्त्व ग्रहण करते समय साधु को ही गुरु बनाना पड़ता है।

प्रश्न होता है कि साधु और श्रावक का साहचर्य मान लिया जाय तो अढाई द्वीप के बाहर साधु नही होते, फिर वहां के तिर्यञ्च श्रावक क्या श्रावक नही है? इसका उत्तर यह है कि अढाई द्वीप के बाहर साधु नही होते, यह ठीक है परन्तु जातिस्मरण ज्ञान वाले जीव होते हैं। वे पूर्वभाव-प्रज्ञापननय की अपेक्षा साधु है। इसके सिवाय जहां साधु नही होते, वहां कई व्रत श्रद्धारूप ही रहते हैं, स्पर्शना रूप

नही होते । उदाहरण के लिए साधुओ के अभाव मे बारहवां व्रत अतिथि सविभाग कैसे निपज सकता है ? इस प्रकार अढ़ाई द्वीप के बाहर श्रद्धारूप व्रत ही होते है ।

'श्रमणोपासक' शब्द भी छोटा नही है । श्रमणोपासक को भी नियम लेकर उनका पालन करना पड़ता है और खान पान की ऐसी शुद्धि रखनी पड़ती है, जिससे घर पर आये हुए साधुओं को खाली न जाना पड़े । यो तो साधु अश्रावक के घर से भी आहार पानी ले लेते हैं, फिर भी श्रावक को तो भोजन का विचार रखना ही चाहिए । श्रावक को मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए । आज साधु भी श्रावको की खुशामद में पड़ गये हैं । इस कारण श्रावको ने भी अपने नियमो का पालन करना कम कर दिया है । साधुओ में भी मान-प्रतिष्ठा की भूख जाग उठी है । मगर शास्त्र कहता है कि साधुओ को वन्दना-नमस्कार की भी चाह नही होनी चाहिए ।

श्रमणोपासक साधु में गुण देखेगा तो वन्दना करेगा ही । सच्चा श्रमणोपासक केवल वेष की उपासना नही करता, किन्तु साधुत्व की उपासना करता है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

किं पुच्छसि साहूणं, तवं च नियमं च बंभचेरं च ।

किसी साधु ने एक श्रावक से पूछा–तुम साधुओ की क्या बात देखते हो ? क्या साधुओ का वेष बराबर नही है ?

तब दूसरे साधु ने कहा-यह वेष नही देखता है, साधुओ के गुण देखता है । जब गुण देख लेगा, तब वन्दना करेगा ।

इतना कह कर उसने श्रावक से कहा—क्यों यही बात है न ? श्रावक बोला—जी हाँ ।

साधु बोले-ठीक है । गुण देखकर वन्दना करने से कभी किसी असाधु के पजे मे नहीं फसोगे ।

इस तरह श्रावक, साधु के वेष का नही किन्तु साधुता के गुण का उपासक होता है और इसी कारण वह श्रमणोपासक कहलाता है ।

श्रमणोपासक हाथ-पैर दबाकर श्रमण की सेवा नही करता, किन्तु अतिथि सविभाग द्वारा सेवा करता है । वह इस बात का ध्यान रक्खेगा कि मैं जिनका उपासक हूं जो मेरे लिए आधारभूत हैं वे मेरे घर से खाली न जावें ।

किसी गाव मे सब लोग रात ही रात मे खाने वाले हो तो क्या वहाँ साधु का निर्वाह हो सकता है ?

नही !

सब रात म खाते हो तो तपस्वियो को उपयोगी आहार नही मिल सकता ।

मिथ्यात्व त्याग

श्रमणोपासक बनने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का परित्याग करना और सम्यक्त्व को धारण करना आवश्यक है । मिथ्यात्व को त्यागने मे और सम्यक्त्व को धारण करने में, निश्चय दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है । जैसे सूर्योदय का होना और अन्धकार का मिटना एक ही बात है, क्योंकि

सूर्योदय होने पर अंधकार मिट ही जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण (त्याग) करने पर सम्यक्त्व आ ही जाता है। फिर भी व्यवहार दृष्टि से दोनो अलग-अलग हैं। मिथ्यात्व का त्याग कारण कहा जा सकता है और सम्यक्त्व उसका कार्य कहा जा सकता है अर्थात् मिथ्यात्व का त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व क्या चीज है? इसका उत्तर यह है कि न जानने का नाम मिथ्यात्व नहीं है, वरन् उलटा जानने और मानने का नाम मिथ्यात्व है। कहा भी है—

जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना

जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है और अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है।

जो वस्तु चैतन्य गुण से युक्त है, उसे अजीव मानना मिथ्यात्व है। लोक मे हिलने-चलने वाले प्राणियो को ही जीव माना जाता है, लेकिन शास्त्रकार पृथ्वी, जल आदि स्थावर योनि मे भी जीव मानते हैं।

जिस पृथ्वी में शस्त्र परिणत हो गया है, अर्थात् स्पर्श मे आती रहने से अथवा अन्य किसी कारण से जिसकी घात हो गई है, उस पृथ्वी को छोड़ कर शेष पृथ्वी सचित्त है।

आप कहेगे कि शस्त्र लगने से अचित्त हुई पृथ्वी और सचित्त पृथ्वी की पहचान क्या है? इसका उत्तर यह है कि ताजा खुदी हुई पृथ्वी का वर्ण, रस, गंध आदि भिन्न प्रकार

होता है और समागम में आकर अचित्त हुई पृथ्वी का वर्ण, रस, गंध आदि भिन्न प्रकार का होता है। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी में भी अपने जैसा जीव मौजूद है।

प्रश्न हो सकता है-हम तो बोलते हैं, पृथ्वी के जीव क्यो नहीं बोलते ? उत्तर में कहा जायगा—क्या बोलने से ही जीव रहता है ? न बोलने से जीव नही रहता ? क्लोरोफार्म सुंघा देने से या किन्हीं दूसरे कारणों से मनुष्यों का बोलना, देखना वन्द हो जाता है, तो क्या उस समय मनुष्यो में जीव नही होता है, ? यदि होता है तो फिर न बोलने के कारण पृथ्वीकाय मे जीव का निषेध कैसे किया जा सकता है?

पृथ्वीकाय में जीव होने का एक प्रमाण और लीजिए। जब आपका जन्म हुआ था, तब आपका शरीर छोटा था और घुटने की गांठ भी छोटी थी। जब आपका शरीर बड़ा हुआ तो घुटने की गांठ भी बड़ी हुई। अब आप विचार करें कि यह घुटने की गांठ चैतन्य शक्ति से बड़ी हुई या जड़ शक्ति से ?

'चैसन्यशक्ति से'

यद्यपि गांठ की हड्डी बोलती-चालती नही है और हाथ लगाने पर कड़ी ही मालूम होती है, फिर भी उसे चैतन्य मानना होगा या नहीं ?'मानना होगा'

क्योकि हड्डी छोटी से बड़ी हुई है उसमें चैतन्य शक्ति न होती तो वह बढती कैसे ?

बबूल का पेड़ काला और कठोर होता है परन्तु

उसका फूल पीला और कोमल होता है । यों किसी से कहा जाय की बबूल मे पीला रंग भी है तो शायद ही कोई माने । लेकिन यदि बबूल में पीला रंग नही था तो उसके फल में पीलापन कहां से आया ? इसी प्रकार कठोर पेड़ में कोमलता नहीं थी तो फूल में कोमलता कहां से आ गई ? तो फिर मानना होगा कि बबूल में पीलापन और कोमलता भी है, जिसे हम किसी प्रयोग विशेष से ही देख सकते हैं, वैसे नहीं देख सकते । ज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार वह फूल चैतन्य शक्ति से खिला हुआ है, उसी प्रकार यह शरीर और इसकी हड्डियां भी चैतन्यशक्ति से बनी हुई हैं ।

खदानों से पत्थर निकलता रहा है और आज भी निकल रहा है, फिर भी खदानें मर जाती हैं या नहीं ? अगर पृथ्वी में चैतन्य शक्ति न हो तो खदानों में पत्थर कैसे बढ़ें ? यही सब समझ कर शास्त्रकारों ने कहा है कि पृथ्वी में भी जीव है । उन्होने पृथ्वी में जीव बताने के साथ ही उसके लक्षण भी बतलाये हैं । यह बात दूसरी है कि उसकी कही हुई, इस सम्बन्ध की बात आपकी हमारी समझ में न आये, परन्तु आगम को तो प्रमाण मानना ही चाहिए ।

पृथ्वी की तरह पानी में भी जीव है । कहा जा सकता है कि पानी की ही तरह तेल भी द्रव्य पदार्थ है । शास्त्र– ने तेल में जीव क्यो नहीं बतलाया ? सिर्फ पानी में ही जीव क्यों बतलाये हैं? इसका समाधान यह है कि तेल में जीव नही है, इस कारण नहीं बतलाये हैं और पानी में जीव है, इससे बतलाये हैं । पानी में जीवों का अस्तित्व है, इस सत्य की साधारण परीक्षा इस प्रकार है:—

जाड़े के दिनों में खूब ठंड पड़ रही हो, आप किसी गहरे तहखाने में सोकर उठेंगे और देखेंगे कि आपके मुंह से भाप निकल रही है और आपका शरीर गर्म है। परन्तु गर्मी के दिनो मे आप किसी तहखाने में सोएंगे तो ठडक मालूम होगी और आपका शरीर भी ठंडा रहेगा। यह क्रम तब तक रहेगा, जब तक आत्मा है।

इसी प्रकार जाड़े के दिनों में गहरे कुओं का पानी गर्म निकलता है और नदी तथा तालाब के जल से भी भाफ निकलती हुई दिखाई देती है। लेकिन गर्मी के दिनों में जितना अधिक गहरा कुआ होगा, उतना ही अधिक ठडा पानी निकलेगा।

जल में जीव न होता तो ऐसा क्यों होता ? जैसे शरीर में आत्मा होने पर ही सब बातें होती हैं, वैसे ही जल में जीव होनें पर ही ये सब बातें हो सकती हैं।

इस प्रकार स्थावर योनि में भी जीव है। ऐसा होते हुए भी उन्हे अजीव मानना, अजीव को जीव मानना या विश्व के समस्त पदार्थों को जीव ही जीव मानना अथवा अजीव ही अजीव मानना मिथ्यात्व है।

सम्यग्दृष्टि तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धा करता है। कहा भी है—

तत्त्वार्थश्रध्दानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्व नौ हैं, पर उन सबके मूलभूत तत्त्व दो ही हैं। उनका वास्तविक स्वरूप समझ कर उन पर प्रगाढ श्रद्धा रखना सम्यक्त्व कहलाता है। तत्त्वो पर श्रद्धा करना उर्ध्वगामी होने का मार्ग ! मिथ्यात्व इससे विपरीत नीचे गिराने वाला है।

आत्मा ऊर्ध्वगमन के मार्ग को भूला रहने से ही ससार में भटकता है, यानी स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय होकर भी ससार में जन्म-मरण करता है।

आपको यह तो विदित ही है कि हम चेतन हैं, परन्तु बधनो मे जकडे हैं और हमारे ज्ञान पर आवरण है। इस आवरण के कारण ही हम दीवार की उस पार की वस्तु नहीं देख सकते, लेकिन आजकल के वैज्ञानिक साधनो से ऐसे भी यंत्र बने है, जिनकी सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु भी देखी जा सकती है। जब आत्मा पर आवरण होने पर भी यन्त्रों की सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु देखी जा सकती है, तो आवरण हटने पर हम किसी प्रकार की वस्तुए न देख सकेंगे ? उस दशा में मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के पदार्थ देखे जा सकेंगे। मतलब यह है कि जीव है और अजीव भी है। अजीव मे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व न होता तो आत्मा पर आवरण आ ही नहीं सकता था। कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु के मेल के बिना अपने आप विकृति का पात्र नही बनती। विकार आता है पर के संयोग से ही। इस प्रकार विचार करने से जीव और अजीव इन दो तत्त्वो का अस्तित्व प्रतीत होता है।

जीव, अजीव के संसर्ग के कारण बन्धन में पड़ा है,

इस कारण बंध तत्त्व भी है। जब बन्ध है तो बन्ध का कारण भी होना चाहिए। बन्ध का जो कारण है, उसे जैन शास्त्र आस्रव कहते हैं। बन्धन है तो वह भी कभी रुकता भी है और उससे छुटकारा भी है। छुटकारा दो प्रकार का है— एक आंशिक छुटकारा और दूसरा परिपूर्ण छुटकारा। इन तीनों बातों को क्रमशः संवर, निर्जरा और मोक्ष कहा गया है। संसार में सुख और दुःख का अनुभव होता है, यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। सुख-दुःख का अस्तित्व अनुभव सिद्ध है। जब सुख–दुःख हैं, तो उनके कारण भी होने ही चाहिए। उनके जो कारण हैं, वही क्रम से पुण्य-पाप कहलाते हैं।

कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों के निमित्त से ही सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, परन्तु यह ठीक नही है। बाह्य पदार्थ बाह्य कारण हैं और सिर्फ बाह्य कारणों से सुख दुःख उत्पन्न नही हो सकते। जिस बाह्य पदार्थ से एक को सुख प्राप्त होता है, तो दूसरे को दुःख का अनुभव होता है। अतएव बाह्य कारणो के अतिरिक्त अंतरंग कारणों को मानना भी आवश्यक है। अन्तरग कारण पुण्य-पाप ही हो सकते हैं।

इस प्रकार तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है और श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व है।

वेदान्त मत में मिथ्यात्व का स्वरूप और तरह का है। उसके अनुसार जो पदार्थ नही है, उसे पदार्थ मान लेना मिथ्यात्व है। जैसे—मृगमरीचिका में जल न होने पर भी जल मान लेना। इसी प्रकार अन्यत्र भी पदार्थ न होने पर भी पदार्थ का अस्तित्व मान लेना मिथ्यात्व कहलाता है।

यहां यह स्मरण रखना है कि वेदान्त में एक मात्र ब्रह्म पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार की गई है। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् में प्रतिभाषित होने वाले सभी पदार्थ असत् हैं

मगर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मृगमरीचिका मे जल नही है, पर अन्यत्र कहीं जल है या नही ? अन्यत्र कही जल है, तभी तो मृगमरीचिका मे जल का भ्रम होता है। कही भी जल न होता तो मरीचिका मैं जल का भ्रम कैसे होता ?

वास्तव में संसार में जल नामक पदार्थ है। इसी से रेत मे जल का भ्रम होता है। नदी, तालाब आदि जलाशयों में वास्तविक जल न होता और कभी उस जल का ज्ञान न हुआ तो रेत में जल का आरोप किस प्रकार किया जा सकता था ? भ्रम में वही वस्तु प्रतीत हो सकती है, जो पहले जानी हुई हो, देखी हुई हो या अनुभव में आई हो। जिसनें कभी चांदी न देखी होगी, वह सीप को देखकर भ्रम से उसे चांदी नहीं समझ सकता। इससे यह साबित होता है कि वेदान्त मत के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों को असत् या भ्रमजनित मानना उपयुक्त नहीं है। यहां इस विषय में विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है। अतएव मूल वात पर फिर आ जाए।

आशय यह है कि श्रमणोपासक वनने के लिए मिथ्यात्व को त्याग कर समकित को स्वीकार करना चाहिए और उस पर उसी प्रकार दृढ रहना चाहिए, जिस प्रकार भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहे थे।

कामदेव श्रावक को देव ने समकित से विचलित करने के लिए अनेक कष्ट दिये, फिर भी वह विचलित न हुआ और समकित पर दृढ ही बना रहा।

देव ने कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। फिर वह जीवित कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि आधुनिक डाक्टर भी कलेजे के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें जोड़ देते हैं, फिर हम तो देवता के द्वारा टुकड़े-टुकड़े किया जाना कहते हैं। जब डाक्टर जोड़ सकता है तो क्या देव नही जोड सकता? हां कोई देवो का अस्तित्व ही न मानता हो तो बात दूसरी है। ऐसे लोगो के लिए यह कथा नही है।

देव ने कामदेव के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, तब भी कामदेव अपनी श्रद्धा पर अटल रहा। वह कहता रहा, यह कष्ट नही है, किन्तु भगवान् के तत्त्व को, मेरे अन्तःकरण मे पूरी श्रद्धा है या नहीं, इस तथ्य की परीक्षा है।

जीव और अजीव अलग-अलग है। आत्मा अमर है, यह जान कर मरने का भी भय त्याग देने पर ही पता चलता है कि आत्मा सम्बन्धी श्रद्धा दृढ़ है या नही? कामदेव को देव ने पहले ही कहा था कि हे कामदेव, तू महावीर का धर्म त्याग दे; अन्यथा मैं इस खड़ग से तेरे टुकड़े करता हूं। देव द्वारा दिखाये हुए इस भय से यदि कामदेव भीत हो जाता तो वह श्रद्धा से गिर जाता। परन्तु वह जानता था कि आत्मा के खण्ड नही हो सकते।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

आत्मा तो वह है जिसे तलवार काट नहीं सकती, आग जला नही सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा सोख नही सकती ।

कामदेव कहता है—आत्मा तलवार मे कट नहीं सकती और तू काटने को कहता है। देखता हू कौन हारता है। मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है और यह देह नाशवान् है। मुझे किस बात का भय ?

इस प्रकार की दृढता सम्यग्दृष्टि मे ही हो सकती है। मेरे कथन का यह अर्थ नही है कि आप जबरदस्ती सिह के सामने जाए अथवा साप से कटवाए । मेरा आशय यह है कि आप आत्मज्योति को भूल कर पद पद पर भयभीत हो रहे हैं इस कारण आत्मज्योति को देखो । 'आत्मा अमर है' यह जानकर भी मरने का भय बना रहा तो कहना होगा कि अभी आप शब्दज्ञान—उपदेश पर भी अमल नही कर सकते और केवल भय ही भय मारे मरते हैं ।

लोग भय के कारण अधिक मरते हैं। भय से मुक्त होने का उपाय आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्भय बनना है। आपको व्यवहार के काम करते कोई नहीं रोकता, परन्तु निश्चय मे तो यही समझो कि आत्मा अविनाशी है। लोग भूत के नाम पर ही मरते हैं, किन्तु वास्तव मे भूत नही, भय ही मारता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे भी कहा है कि जो भयभीत होता है, वही भूत से छला जाता है। यो भूत-पिशाच योनि भी है, लेकिन मनुष्य के सामने भूत-पिशाच क्या कर सकते हैं ? परन्तु मनुष्य मे आत्मश्रद्धा नही होती है तो कई लोग मरे हुए भूत के भय से मरते हैं और कई

जीवित डाकिन के डर से मरते हैं । आत्मश्रद्धावान् को कहीं कोई नहीं डरा सकता ।

कामदेव पिशाच से नहीं डरा, उसने पिशाच को भी देव बना दिया । वह देव दूसरे को कष्ट देने आया था; इस कारण वह पिशाच बना हुआ था परन्तु कामदेव ने अपने श्रद्धाबल से उस पिशाच को भी देव बना दिया । देव बन कर उसने हाथ जोड़ कर कामदेव से कहा—आप धन्य हैं और आपके माता-पिता धन्य हैं ।

अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व को दूर करके सम्यक्त्व को धारण करना और सम्यक्त्व को आत्मा में इस प्रकार रमाना कि कदाचित् कोई देव भी कहे कि—'तू जड़ है और मैं तुझे काटता हूं' तब भी भयभीत न हो, किन्तु हसता ही रहे । यही नहीं, जैसे कामदेव ने पिशाच को देव बनाया, उसी प्रकार उसे सुधार दे ।

मिथ्यात्व को त्यागने वाला और सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला सबसे पहले यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य तीर्थिकों द्वारा माने जाने वाले मिथ्यात्व देव, मिथ्या धर्म और मिथ्यागुरु को देव, धर्म और गुरु नहीं मानूंगा और न उन्हें नमस्कार करूंगा ।



तीर्थ की व्याख्या



सम्यग्दृष्टि अन्यतीर्थी देव और गुरु को मानना-पूजना त्याग देता है। यह पहले कहा जा चुका है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए तीर्थ, स्वतीर्थ और अन्यतीर्थ को समझ लेने की आवश्यकता है। शब्दशास्त्र में 'तीर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है –

'तीर्यते' अनेन–इति तीर्थः

जिसके सहारे तिरा जाय, वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ दो प्रकार का है (१) द्रव्यतीर्थ और (२) भावतीर्थ। जिसके द्वारा समुद्र, नदी आदि की कठिनाई को सरलतापूर्वक पार किया जा सके, उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। जैसे, नदी पर पुल बनाया गया तो कीड़ी भी उसे पार कर सकती है, अतएव पुल तीर्थ है। उसके द्वारा पार होने वाले को भी तीर्थ कहा जाता है। यह द्रव्यतीर्थ की बात हुई।

इसी प्रकार संसार एक गहन समुद्र के समान है। इस संसार-समुद्र मे जीव डूब रहे हैं। जिस साधना से जीव

संसार-समुद्र से पार होते हैं, उस साधना को और उस साधन के द्वारा पार होने वाले को भावतीर्थ कहते हैं।

अब यह सोचना है कि तीर्थ के स्वतीर्थ और परतीर्थ भेद क्यों किये जाते हैं? ससार के सभी दर्शनो को मानने वालों का यह दावा है कि हमारा दर्शन ससार से तिराने वाला है। लेकिन जिनका दर्शन यथार्थ है, वे स्वतीर्थी हैं और जिनका दर्शन अयथार्थ है, वे परतीर्थी या अन्यतीर्थी हैं।

स्वतीर्थ और परतीर्थ को निश्चय और व्यवहार से जाना जा सकता है। परन्तु निश्चय से जानने का साधन हमारे-आपके पास नहीं है। हम तो सिर्फ व्यवहार से ही जान सकते है कि अमुक चिह्न या लक्षण वाला स्वतीर्थ है और अमुक चिह्न या लक्षण वाला परतीर्थ है।

फौज के आदमी आप ही लोगों मे से होते हैं, इसलिए जब तक कोई चिह्न न हो, नही कहा जा सकता कि यह आदमी फौज का है या नही। साथ ही फौज में भर्ती हो जाने मात्र से ही कोई आदमी वीर नहीं हो जाता, बल्कि कोई-कोई तो भर्ती न होने वाले, भर्ती होने वालो से भी अधिक वीर होते हैं। लेकिन व्यवहार में फौजी वर्दी पहनने वाला वीर माना जाता है। निश्चय में वह वीर है या नही, यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कहा है—

लोए लिंगप्पयोजणं।

निश्चय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लिंग देखा जाता है और व्यवहार में वेष देखा जाता है।

यही स्वतीर्थ और अन्य तीर्थ में अन्तर है। जिसमें शास्त्रोक्त लिंग पाया जाय, वह स्वतीर्थ है और जिसमे न पाया जाय, वह परतीर्थ है।

अब यह देखना है कि अन्यतीर्थी देव किसे कहते है ? जैन सिद्धान्त मे नाम के लिए कोई आग्रह नही है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमुक नाम वाला देव स्वतीर्थी है और अमुक नाम वाला परतीर्थी है। जैन सहस्रनाम मे ससार के देवो के बहुत से नाम आये हैं। इसी प्रकार विष्णुसहस्र नाम में भी बहुत-से नाम आये हैं। भक्तामरस्तोत्र के ये श्लोक तो प्रसिद्ध ही हैं:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यम्,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

यहां बतलाया गया है कि सन्त पुरुष परमात्मा को अनेक नामो से पुकारते हैं ! अव्यय, विभु, अचिन्त्य, ब्रह्मा, ईश्वर, योगीश्वर, बुद्ध शकर, धाता-विधाता, पुरुषोत्तम आदि किसी भी नाम से कहो, इसमे किसी प्रकार का विवाद नही है। हमे तो यह कहना है कि हम अदेव को नहीं मानते।

अदेव वे हैं जिनमें अठारह दोष पाये जाते हैं। जिसमें अठारह दोष हैं, उसका नाम भले ही अर्हन्त भी क्यों न रख दिया जाय, हम उसे देव नहीं मानते। इस प्रकार जो देव के रूप माने जाते हों, किन्तु जिनमें अठारह दोष हों, वे अन्यतीर्थी देव कहलाते हैं। यह निश्चय की बात है—असलियत है। व्यवहार में तो फिर नाम का भी भेद हो गया है कि अमुक नाम वाले स्वतीर्थी देव हैं और अमुक नाम वाले परतीर्थी देव हैं।

मैंने एक भजन देखा था उसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार थी—

महादेव कहे सुन पारवती, विजया मत देय गंवारन को।

इस पंक्ति का अर्थ दो तरह से है। साधारण लोग इसे भंग के लिए समझते हैं और कहते हैं कि महादेव को भंग प्यारी है, इसलिए यह कड़ी भंग के लिए ही है। लोगों ने एक तुक और जोड़ रक्खी है —

गजानन को मोदक चाहिए, महादेव को भंग।

भंग पीने वालों ने भंग का नाम विजया रक्खा है। अतएव वे इस कड़ी का अर्थ करते हैं-'हे पार्वती! तू गवारों को विजया मत दे, क्योकि विजया मेरी शक्ति है।'

महादेव भंग पीते है या नहीं, इस पर विवाद है। महादेव को हम भी मानते हैं। हमारे यहां कहा है—

त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।

वास्तव में 'सत्य-स्वरूप' का नाम ही शिव (महादेव) है। ऐसे शिव की स्त्री 'चित्तवृत्ति' है और विजया आत्मज्ञान है। यह सत्य-स्वरूप शिव अपनी स्त्री से कहते हैं कि विजया अर्थात् आत्मज्ञान गवारो को मत दे, अन्यथा दुरुपयोग होगा।

उक्त कड़ी का अर्थ तो यह है। परन्तु लोग कहते हैं कि महादेवजी को भग प्रिय थी, इस कारण यह भग के सम्बन्ध में ही कहा है। तब हमें कहना होता है कि हम ऐसे शंकर को ही नही मानते।

इसी तरह कृष्ण के नाम पर भी लोगो ने अनेक ऊलजलूल कल्पनाए कर रक्खी हैं और रासलीला तथा व्यभिचार का प्रचार किया है।

मतलब यह है कि अठारह दोषो से युक्त देवो को मानने वाले अन्यतीर्थी हैं और अन्यतीर्थी द्वारा माने हुए देव अन्यतीर्थिक देव है। सम्यग्दृष्टि ऐसे दोषयुक्त देव को नहीं मानता और ऐसे देव का त्यागना मिथ्यात्व का त्यागना है।

कई लोग कहते हैं कि जीव ईश्वर नही बन सकता। यदि जीव ईश्वर बनने लगे तो अनेक ईश्वर हो जावें और फिर उनमे आपस में लडाई होने लगे। इस प्रकार की बातें व्यर्थ हैं क्योकि कर्म के आवरण से मुक्त होना ही ईश्वर बनना है। कर्म–आवरण से मुक्त होने के पश्चात् आत्मा जन्म नही लेता और जो जन्म लेता है, कहना चाहिए कि वह मुक्त नही हुआ है।

कई लोग कहते हैं कि जीव को मोक्ष नही होता।

यदि जीव को मोक्ष होने लगे तो थोड़े ही काल से संसार सूना हो जाय। इस प्रकार की शंका भी फिजूल है। मोक्ष होने पर भी ससार सूना नही हो सकता। जीवों का अन्त आना तो दूर की बात हैं, पहले क्षेत्र का विचार कर देखिये। क्षत्र अनन्त राजू है। यदि आप एक-एक करके रुपयो की कडी जमाते जाए तो आकाश तो रुकेगा, पर आकाश के रुकते-रुकते क्या कभी उसका अन्त आ जाएगा?

'नही!'

क्योकि आगे पोल है। इसी प्रकार यदि नीचे के आकाश का अन्त लेना चाहे तो भी अन्त नहीं आएगा।

कहा जाता है एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा कि दुनिया का केन्द्र कहा है? बीरबल ने उत्तर दिया—मैं नाप कर बतला सकूंगा।

दूसरे दिन बीरबल ने जगल मे जाकर एक जगह खूंटा गाड़ दिया और बादशाह से कहा—मैंने दुनिया के केन्द्र का पता लगा लिया है। उसने वह खूंटा बतला कर कहा—यही दुनिया का केन्द्र है, आप चाहें तो नाप कर देख लें।

आप कही भी खडे हों, क्या दिशा की दूरी मे कुछ फर्क पड़ेगा? अर्थात् आकाश का अन्त आएगा? आप हजार कोस उत्तर की ओर बढ जाएगे तब भी क्या दक्षिण दिशा की दूरी बढ जाएगी और उत्तर दिशा समीप हो जाएगी? आप कही भी खडे होकर, किसी भी दिशा के लिए कल्पना करेंगे तो मालूम होगा कि कोई भी दिशा कम या ज्यादा दूर नही है। लोक को सीमा कर भी ली जाय तो भी

अलोक का मध्य कल्पित नही किया जा सकता, क्योकि गोल वस्तु का मध्य नही हो सकता। हाथी दांत की चूड़ी को जहा से नापो, वही से उसका मध्य मालूम होगा। ज्ञानियों ने लोक-अलोक को भी इसी प्रकार का देखा है। उसका कही आदि नही, कही मध्य नही। फिर आदि–मध्य वतलावें तो कैसे वतलावें ?

काल के विषय मे भी यही बात है। जिस प्रकार क्षेत्र का अन्त नही है, उसी प्रकार काल का भी अन्त नहीं है। कोई नही कह सकता कि भूतकाल ज्यादा है या भविष्यकाल ज्यादा है, क्योकि दोनों ही अनन्त हैं। अनन्त के चक्कर का कही पार नही है।

इस प्रकार क्षेत्र अनन्त है और काल भी अनन्त है, किन्तु क्षत्र और काल से भी जोव अनन्तगुणा अधिक है। जब क्षेत्र और काल ही समाप्त नही होता तो जीव किस प्रकार समाप्त हो जाएगे ?

कल्पना कीजिए, एक वोरा खसखस के दानो का भरा है और एक वोरा नारियलो का भरा है। यदि एक नारियल के साथ एक एक खसखस का दाना निकाला जाय तो नारियल समाप्त हो सकते हैं, पर खसखस के दाने वहुत थोड़े बाहर आएगे। काल नारियल के समान है और जीव खसखस के दानो के समान हैं। परन्तु जव काल रूपी नारियलो का ही समाप्ति नही है तो जीव रूपी खसखस के दानो की समाप्ति कैसे होगी ?

कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि इस प्रकार

की भ्रमपूर्ण बातो में नही आता । वह निर्दोष देव और उनकी वाणी पर अटल विश्वास रखता है । वह निर्दोष देव को ही वन्दन—नमस्कार करता है ।

कहा जा सकता है कि वन्दन-नमस्कार तो सबको करना चाहिए, फिर सदोष अन्यतीर्थी देवो को नमस्कार करने के त्याग की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी देव को नमस्कार न करना पाप से असहयोग करना है ।

लोग वन्दना करने को तुच्छ-सी क्रिया समझते हैं और हर किसी के आगे सिर झुका देते हैं । अपने सिर की कद्र नही करते । लेकिन वन्दना का अर्थ समझने पर उसका महत्त्व मालूम होगा । किसी को बडा मानकर उसके सामने अपनी लघुता दिखलाते हुए, हाथ जोड़ कर सिर झुकाना, नमस्कार कहलाता है । नमस्कार दो प्रकार का है-लौकिक और लोकोत्तर । अर्थात् एक नमस्कार व्यवहार के लिए किया जाता है और दूसरा धर्म के लिए ।

लोक व्यवहार में भी नमस्कार की कुछ निश्चित मर्यादाएं हैं और शिष्ट जन उनका पालन करते हैं । जो बड़ा होता है उसी को नमस्कार किया जाता है । नमस्कार करने के पश्चात् भेदभाव या छल-कपट का वर्त्ताव नही किया जाता, किन्तु समर्पण का भाव दिखलाया जाता है । इसीलिए शास्त्र मे नमस्कार-पुण्य कहा गया है ।

बहुत से लोग छल रख कर नमस्कार करते हैं । यानी वे बाहर से तो खूब नम्रता प्रकट करते हैं, लेकिन उनके

हृदय में छल भरा रहता है। ऐसा करना वास्तविक अर्थ में नमस्कार करना नहीं है।

किसी को बड़ा मानकर अपनी लघुता प्रकट करने के लिए उसे नमस्कार किया जाता है अर्थात् नमस्कार करना अपनी लघुता बताना है। लघु बनने पर अभिमान नष्ट होगा ही और अभिमान नष्ट होने पर पुण्य होता ही है। इस प्रकार का व्यावहारिक नमस्कार लोक-व्यवहार तक ही सीमित रहता है। इससे समाज में शांति बनी रहती है और प्रेमभाव प्रकट होता है।

यह लौकिक नमस्कार की बात हुई। लोकोत्तर नमस्कार उसी को किया जाता है, जिसमें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र हो। जिनमे ये गुण नहीं हैं, फिर भी जो अपने आपको साधु कहते हैं, या साधु का वेष धारण करके ढोंग रचते हैं, उनको नमस्कार करना उनके दंभ का सम्मान करना है। किसी के द्वारा नमस्कार किये जाने पर ऐसे ढोंगी यह मानेंगे कि हमारा ढोंग, ढोंग नहीं है, धर्म है। फिर वे अपने धर्म-ढोंग को भी धर्म के नाम पर चलाएंगे। अतएव ऐसे लोगों को नमस्कार नहीं किया जाता।

तात्पर्य यह है कि वन्दना, नमस्कार स्वतीर्थी देव गुरु को ही किया जाता है, अन्यतीर्थी देव-गुरु को नहीं। कहा जा सकता है कि हम तो लौकिक नाते से अन्यतीर्थी को नमस्कार करते हैं, पर ऐसा कहना उचित नहीं है। इससे लोगों को भ्रम होता है और दंभ को प्रतिष्ठा मिलती है। इसीलिए अन्यतीर्थी को वन्दना नमस्कार करना मना है। ढोंगी को नमस्कार करना, उसका आदर करना नहीं है, उसे

ग्रौर नीचे गिराना है ।

जिसने जैन साधु का वेष धारण किया है, किन्तु जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं हैं, शास्त्रकार उसे 'पासत्था' कहते हैं । 'पासत्था' का अर्थ है व्रतो को पास में रखने वाला, उन्हे व्यवहार में न लाने वाला । जैसे—कपडे पास में रक्खे रहे तो लज्जा की रक्षा न होगी, कपडो को पहनने पर ही लज्जा की रक्षा हो सकती है। उसी प्रकार व्रतो को पास मे रख छोडने से ही साधुता नही ग्राती, किन्तु उनका पालन करने वाला ही साधु कहलाता है । 'पासत्था' चारित्र का यथावत् पालन नही करता ग्रतएव उसको वन्दना-नमस्कार करने से धर्म की कीर्ति नही होती । यही नहीं, उसको वन्दन-नमस्कार करना उसकी शिथिलता को प्रोत्साहन देना है ।

कहा जा सकता है कि 'पासत्था' को नमस्कार करने से निर्जरा तो होगी न ? शास्त्रकारो का कथन है कि ग्रविवेकपूर्वक नमस्कार करने से निर्जरा भी नही होती ।

प्रश्न होता है कि निर्जरा न सही, मस्तक भुकाया है ग्रौर नम्रता प्रदर्शित की है तो कुछ पुण्य होगा या नही ? ज्ञानी कहते है कि ऐसे नमस्कार से पुण्य नही होगा, किन्तु ग्रज्ञान-क्रिया का फल होगा ।

यदि ऐसे व्यक्ति से ग्रसहकार करोगे तो ग्रज्ञान क्रिया के फल से भी बचे रहोगे ग्रौर सभव है कि वह ग्रपना ग्राचरण सुधार ले परन्तु नमस्कार पाकर वह अपने दुराचार को दुराचार नहीं समझेगा ग्रौर उसका सुधार नहीं होगा ।

इन सब कारणों से सम्यग्दृष्टि ऐसे देव और गुरु को वन्दन-नमस्कार नहीं करता, जिनमें देव के और गुरु के वास्तविक गुण न हो। निशीथ सूत्र में कहा है कि जो साधु पासत्था को वन्दना करता है, उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है। जो साधु पासत्था को पढाता है, उसके साथ ग्रामानुग्राम विचरता है और उसे आहार पानी ला देता है, उसे भी चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भगवान् को पासस्थों से द्वेष नहीं था, जो उन्होंने ऐसा कहा। भगवान के इस विघान का रहस्य यही है कि पासत्था के साथ रहने से अच्छा साधु भी शिथिल हो सकता है। उसके साथ असहयोग न किया गया तो उसका भी सुधार न होगा और यदि असहयोग किया गया तो उसका भी सुध-रना संभव है।

जो प्रकृतिगत बातों से ऊपर नही उठ सके हैं, अर्थात् जिनमें काम क्रोध आदि विकार भरे पडे हैं, उनकी उपासना करना और भी अंधकार मे पड़ना है। इस विपय मे भग-वान् का कथन है कि जो पुरुष महन्त अर्थात् साधु कहलाता है और फिर भी स्त्री की उपासना करता है, उसको नम-स्कार करने वाला घोर अंधकार मे समाया हुआ है।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते ।
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ॥
महन्तस्ते क्षमाचित्ताः प्रशान्ताः ।
विमन्यवः सुहृदः साधवा ये ॥

जिनका अन्तःकरण क्षमा आदि सदगुणों से विभूषित है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखते हैं, जिनमें क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, ईर्ष्या नहीं है, वे महन्त पुरुष कहलाते हैं। उनकी उपासना मुक्ति का द्वार है। लेकिन स्त्री के सम्पर्क में रहने वालों की उपासना नरक का द्वार है।

यही बात जैन शास्त्र कहते हैं। जिसमें अठारह दोष विद्यमान हैं, उस देव कहलाने वाले को और जिनमें सम्यक्-चारित्र नहीं है, उस गुरु को नमस्कार न करने की सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करता है।

कुदेव और कुसाधु को वन्दन-नमस्कार करने का ही निषेध नहीं किया गया है, किन्तु इस निषेध के साथ और भी निषेध बतलाया गया है कि कुसाधु और कुदेव जब तक स्वयं न बोले, तब तक सम्यग्दृष्टि उनसे आप पहले न बोले। अर्थात् वह वार्त्तालाप की पहल न करे। न एक बार बोले और न बार बार बोले। उनको अन्न, पानी, खाद्य और स्वाद्य एक बार न देवे और अनेक बार भी न देवे।

प्रश्न हो सकता है कि अगर शास्त्र का यह विधान है तो तेरापथ का यह मन्तव्य ठीक ही ठहरता है कि 'अपने साधु के सिवाय दूसरे को दान देना पाप है। अगर ऐसा न होता तो शास्त्र में कुदेव और कुसाधु को आहार दान देने का निषेध क्यों किया गया ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसमे देव के यथार्थ लक्षण नहीं पाये जाते, उसे देव समझ कर और जिसमें गुरु के लक्षण नहीं हैं, उसे गुरु समझकर अर्थात् धर्म की बुद्धि

से दान देना पाप है। अनुकम्पा की बुद्धि से उन्हे दान देना पाप नही है और अनुकम्पा दान का यहा निषेध भी नहीं किया गया है।

भगवती सूत्र में तु गिया के श्रावको का वर्णन करते हुए उन्हे 'अभंगुयदारे' कहा गया है। अर्थात् दान देने के लिए उनके द्वार सदा खुले रहते थे। अगर आपने साधु के सिवाय दूसरो को दान देने का एकान्त निषेध होता तो सदा द्वार खुले रखने की क्या आवश्यकता थी?

राजा प्रदेशी ने बारह व्रत अंगीकार किये थे और अन्यतीर्थी देव-गुरु को आहार-पानी देने का त्याग भी किया था, फिर उसने विशाल दानशाला की स्थापना की थी। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक, केवल धर्म-बुद्धि से उन्हें आहार दान देने का त्याग करता है, अनुकम्पा बुद्धि से देने का त्याग नही करता। अनुकम्पा भाव से दान देने का निषेध शास्त्र मे कही नहीं है।

कहा जा सकता है कि भले धर्मबुद्धि से ही दान देने का निषेध हो, मगर देने का निषेध तो है ही। इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का निषेध तो मनुस्मृति में भी है—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्, वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

मनुस्मृति, अ. ४, श्लो. ३६

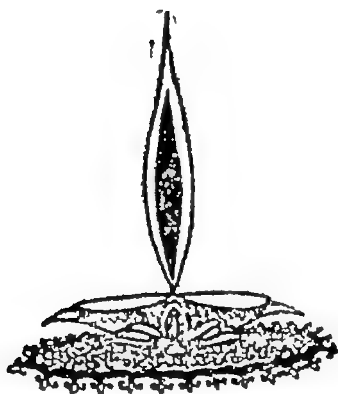
पाखंडी, दभी, निषिद्ध कर्म करने वाले बिल्ली की-सी आजीविका वाले अर्थात् दूसरो का तन–धन अपहरण करने वाले, शठ, स्वार्थ साधना के लिए विद्या प्राप्त करने वाले, वकवृत्ति अर्थात् कपट का सेवन करने वाले ब्राह्मण की पूजा वाणी से भी मत करो ।

इसका आशय यही निकलता है कि ऐसे ब्राह्मण से मत बोलो । इसमे पूजा की रीति से दान देने का निषेध किया गया है, किन्तु दया करने का निषेध नही किया गया है । दया करके दान देने के लिए पात्र-अपात्र का विचार नही किया जाता । पात्र-अपात्र का विचार तो धर्मबुद्धि से दान देते समय ही किया जाता है ।

मनु ने आगे यहा तक कहा है कि ऐसे ब्राह्मण को दान देने वाला दाता, पत्थर की नाव के समान डूब जाता है ।

तात्पर्य यह है कि जिसे सत्य और असत्य का भान हो गया है, जो यथार्थ और अयथार्थ तत्त्व का ज्ञाता हो गया है और जिसने यथार्थ तत्त्व के अनुसार ही चलने का सकल्प कर रक्खा है, उसे अयथार्थ तत्त्व और अयथार्थ तत्त्व का आचरण करने वालो के साथ असहकार रखना चाहिए । जिसने झूठ त्याग दिया है, वह झूठ और झूठे से असहयोग न करेगा तो उसका सत्य टिकना कठिन हो जायेगा । इसी तरह अयथार्थ तत्त्व से असहकार किये बिना यथार्थ तत्त्वों का टिकना भी कठिन हो जाता है । अतएव जो मिथ्यात्व वासना मे पड़ा हुआ है, फिर भी अपने आपको साधु कहता

है, उसके साथ भी असहयोग करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी हेतु से अन्यतीर्थी देव और गुरु को वन्दना-नमस्कार करने का, उनके साथ वार्त्तालाप करने का और उन्हें धर्मभावना से दान देने का निषेध किया गया है।



आगार



अब यह देखना है कि गृहस्थी में रहते हुए अन्यतीर्थी गुरु और अन्यतीर्थी देव से पूरी तरह असहकार किया जा सकता है या एहीं ? ज्ञानियो का कथन है कि संसार में अनेक प्रकार की स्थिति होती है । गृहस्थ की स्थिति बड़ी पेचीदा होती है । अतएव ऐसा न हो कि गृहस्थो को अपना जीवन निभाना भी कठिन हो जाय और ऐसा भी न हो कि उनके आश्रित तत्त्वों का रूप ही लुप्त हो जाय । इस समस्या पर विचार करके ज्ञानियों ने कहा है।—

'अन्नत्थ रायाभिओगेण, गणाभिओगेण, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकन्तारेण ।

—आवश्यक-हरिभद्रीय, पृ० १११०

सम्यक्त्व के ये छह आगार बतलाये गये हैं । इन छह कारणों से यदि अन्यतीर्थी देव-गुरु को मानना भी पड़े, तो भी समकित मे दोष नहीं आता । इन आगारों की व्याख्या इस प्रकार है:—

१—राजाभियोग

राजा के कारण नियम को तोडना "राजाभियोग" कहलाता है। सम्यग्दृष्टि इस बात को भलीभाति जानता है कि अन्यतीर्थी देव और अन्यतीर्थी गुरु के प्रति मेरे हृदय मे किसी प्रकार का द्वेष नहीं है, फिर भी उन्हे नमस्कार करना अपने समझे और मानें हुए तत्त्वों को नष्ट करना है। यह समझ कर वह उनके प्रति असहकार का ही व्यवहार करता है—उन्हे आदर नहीं देता। मगर राजा अन्यतीर्थी देव-गुरु को नमस्कार करता है। उसके दबाव से, आग्रह से या प्रेरणा से सम्यग्दृष्टि को भी कदाचित् उन्हे नमस्कार करना पड़े तो इससे समकित का नाश नहीं होता।

यों तो गुणों के पीछे नमस्कार किया जाता है, परन्तु कही-कहीं रूढि परम्परा से भी नमस्कार करना देखा जाता है। कई लोग चमत्कार बतलाते हैं, इस कारण राजा भी उन्हे मानने लगते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि इस रूढ परम्परा को पाखण्ड मे ही गिनता है, लेकिन कदाचित् राजा उसका सम्मान करने की आज्ञा दे तो उस समय सम्यग्दृष्टि क्या करे ? कोई एक आदमी अपने धर्म पर दृढता दिखला कर इस राजाज्ञा का उल्लघन कर भी सकता है, लेकिन सब ऐसा नहीं कर सकते। अतएव किसी एक आदमी द्वारा की जाने वाली उच्च बात भी नियम रूप नहीं बनाई जा सकती। कदाचित् सब लोग ऐसा करने लगें तो राज्य में अशान्ति फैलेगी और विद्रोह खड़ा हो जाएगा। इस कारण राजा के दबाव से कदाचित् सम्यग्दृष्टि के लिए अन्यतीर्थी को वन्दना-नमस्कार करने का अवसर आ जाय तो शास्त्र

कार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि इसे 'राजाभियोग' समझे। अर्थात् राजा का बलात्कार या दबाव समझ कर वह नमस्कार करे। वह मन में समझे कि 'यह सच्चा देव या गुरु नहीं है, किन्तु राजा के बलात्कार से मैं नमस्कार करता हूं, धर्म की प्रेरणा से नही।'

राजा का अभियोग सम्यक्त्व के समान अन्य व्रतों मे भी है। इस आगार से छूटने के लिए ही श्रावक की बारह प्रतिमाओं का विधान है। उनमें पहली सम्यक्त्व प्रतिमा है। इसमें शुद्ध सम्यक्त्व का पालन किया जाता है। श्रावक सम्यक्त्व का पालन तो पहले भी करता था, किन्तु पहले सम्यक्त्व में आगार थे और पहली प्रतिमा धारण करने पर आगार (अपवाद) नही रहते।

२—गणाभियोग

साधारणतया 'गण' का अर्थ जाति समझा जाता है। जाति के लोग किसी काम को करने के लिए कहे या नियम बनाए और वह काम धर्म से विरुद्ध हो तो सम्यग्दृष्टि क्या करे? जाति के साथ उसका संबंध है उसे लड़की लेनी-देनी है। अगर वह जाति के नियम को नही मानता तो क्लेश होगा। ऐसे अवसर पर सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैं जाति के साथ संबंध-विच्छेद कर लूं, यह बात दूसरी है, परन्तु जब तक ऐसा नहीं कर सकता और जाति के साथ संबंध रख रहा हूं, तब तक जाति वालो की इच्छा के अनुसार धर्मविरुद्ध कार्य भी करना पड़ेगा। इस प्रकार जाति के कारण अन्यतीर्थी देव-गुरु को मानना पडे तो वह गणाभियोग है। इससे सम्यक्त्व मे अतिचार नहीं लगता है।

गणाभियोग का एक अर्थ और भी है। अनेक राज्यों की सम्मिलित शासन व्यवस्था को भी गण कहते हैं। प्राचीन समय में नौ लिच्छवी और नौ मल्ली, ऐसे अठारह राजाओं का गण बना हुआ था। इस गण की तुलना वर्त्तमान राष्ट्र मण्डल के साथ की जा सकती है, यद्यपि वर्त्तमान का राष्ट्र मण्डल निर्बल और निष्प्राण है तथापि है वह गणतन्त्र की रूप-रेखा पर ही। गण का धर्म सबल से निर्बल की रक्षा करना है। जब कोई राज्य किसी निर्बल को सताता है तो गण अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

सम्यग्दृष्टि इस 'गण' का भी आगार रखता है। एक तरफ राजा एक बात कहता हो और दूसरी तरफ गण दूसरी बात कहता हो तब ऐसी उलझन भरी स्थिति में क्या किया जाय ? साधु तो संसार-व्यवहार को त्याग चुके हैं इसलिए उन पर किसी राजा या सम्राट की भी आज्ञा नहीं चलती, लेकिन श्रावक को ऐसे समय में क्या करना चाहिए ? शास्त्र कहता है कि सम्यग्दृष्टि के लिए राजाभियोग और गणाभियोग-दोनों का आगार है। वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल निर्णय करके वर्त्ताव करेगा।

३—बलाभियोग

अभियोग का अर्थ यहां हठ लिया गया है और बल का अर्थ शरीर का सामर्थ्य लिया गया है। एक बलवान् आदमी लाठी लेकर खड़ा हो जाय और कहने लगे—'हमारे गुरु को नमस्कार कर, नहीं तो तेरी खोपड़ी फोड़ दूंगा।

मगर शक्ति हो और तैयारी हो तो धर्म पर दृढ़ रहते हुए मर जाना भी बुरा नहीं है, परन्तु सभी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसीलिए बलाभियोग का विधान किया गया है। सम्यग्दृष्टि ऐसे अवसर पर समझे कि मैं इसके गुरु को वन्दना करने में धर्म नही समझता और न अपनी इच्छा से वन्दना हो कर रहा हूं, मैं तो इसके बल के कारण ही अपना सिर झुका रहा हूं।

४–देवाभियोग

किसी देवता के बलात्कार के कारण, विवश होकर अन्यतीर्थी देव या गुरु को वन्दन-नमस्कार करना या उनका आदर-सत्कार करना देवाभियोग कहलाता है।

कई लोग कहते हैं कि शास्त्र मे जब 'देवाभियोग' आया है तो भैरव-भवानी आदि की पूजा करने में क्या हर्ज है ? मैं पूछता हूं कि आप भैरव-भवानी को अपनी इच्छा से पूजते हैं या वे बलात्कार करके जबर्दस्ती करके आपसे पुजवाते हैं ?। यदि इस आगार का अर्थ हो कि भैरव भवानी की ओर से जबर्दस्ती न होने पर भी, अपनी ही इच्छा से इष्ट की सिद्धि से प्रलोभन से उन्हे मानना-पूजना देवाभियोग है, तो राजाभियोग, गणाभियोग और बलाभियोग का भी यही अर्थ क्यों न समझा जाय ? यदि कहा जाय कि राजाभियोग आदि अपवादों का सेवन तभी किया जा सकता है, जब उनकी ओर से आग्रह हो, जबर्दस्ती हो तो देवाभियोग का भी यही अर्थ क्यो न लिया जाय ?

ास्तव में देवता को उसके बलात्कार के विना ही

मानना-पूजना देवाभियोग नही है । जो अपनी इच्छा से उसे मानते-पूजते हैं, वे अपने सम्यक्त्व को नष्ट करते हैं ।

कई लोग कहते हैं, भैरव-भवानी को स्वप्न में देखा इसलिए उनकी पूजा करनी चाहिए । कई लोग उनके डर के मारे उनकी पूजा करते हैं । मतलब यह है कि भैरव-भवानी आदि के नाम पर ऐसा ढोंग चलता है कि कुछ कहा नहीं जाता ।

जासल गांव के एक श्रावक कहते थे कि उनके बेटे की वहू के शरीर मे चुड़ैल आया करती थी । घर के सब लोग उससे डरते थे । वहीं की एक नाइन ने कहा-मैं चुड़ैल को निकाल दूंगी पर इतना लूंगी । नाइन की माग मजूर करली गई । नाईन वहू को लेकर एक वन्द कमरे में बैठ गई और हाथ मे पत्थर लेकर उससे कहने लगी—रांड निकल नही तो पत्थर से सिर फोड़ दूंगी ।' वस, इतना कहते ही चुड़ैल भाग गई ।

कई वार ऐसा ही हुआ । आखिर उन्होंने सोचा-देखना चाहिए कि नाईन क्या करती है ? छिप कर देखा तो सब बात मालूम हुई । जब वहू के शरीर मे फिर खराबी आई तो उन्होने नाइन से कहा—अब हमे मन्त्र मालूम हो गया है। अब हम स्वय चुड़ैल को भगा लेंगे । वे उसी प्रकार पत्थर लेकर सिर फोड़ने को कहते और चुड़ैल भाग जाती । उन्होंने समझ लिया कि चुड़ैल वगैरह कुछ नही है, यह तो दिल की कमजोरी है ।

जरा विचार कीजिए कि शरीर मे सचमुच ही देव-

देवी हो तो उन्हे मारने वाले के हाथ क्यो नही बध जाते ? वह देव भाग क्यो जाता है ? हम यह नही कहते कि देव-योनि है हो नही । अर्जुन माली के शरीर में देव था और सचमुच देव था । मगर सुदर्शन श्रावक उसके सामने ध्यान लगा कर बैठ गया तो देव भी सुदर्शन का क्या बिगाड़ सका ? कुछ भी नही । लेकिन आप तो अकारण ही डर के मारे देव की पूजा करने लगते हैं । पहले के लोग किसी आवश्यकता के समय भी देव को नही मनाया करते थे । वे तप का आश्रय लेते थे । भरत चक्रवर्त्ती ने देवता को मनाया तो तेला किया ? कृष्णजी ने देवता को मनाया था या तेला किया था ? तप का आश्रय लेने से देवता आप ही आप भागे थे । शास्त्र मे कहा है—

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।

जिसका मन निरन्तर धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं । इस प्रकार देवताओ को भी दास बनाने वाला धर्म आपको प्राप्त है । पर आप धर्म की परवाह न करके देवताओ के दास बने फिरते हैं ! यह कितनी अद्भुत बात है ।

ढोग मे फस कर कोई काम करने लगने से, जैसे भैरव भवानी को मानने लगने से, अनेक अनर्थ होते हैं और फिर मिथ्या परम्परा चल पड़ती है । देवो-देवताओ के नाम पर आज भी जो हजारों बकरे कटते हैं, यह सब ऐसी मिथ्या परम्पराओ का ही कुपरिणाम है ।

देव चार प्रकार के होते हैं—असुर, व्यन्तर, ज्योतिष्क

और वैमानिक । सब से निकृष्ट असुर योनि के देवता मे भी दस हजार चक्रवर्त्तियो के बराबर बल होता है । ऐसा होते हुए भी जो साधारण आदमी की पकड़ के भय से भाग जाता है, उसे देव मानना और फिर उसकी पूजा करना कैसे ठीक हो सकता है ?

महाराष्ट्री भाषा के एक मासिक पत्र में 'भूताचा खेल' शीर्षक एक लेख था। उसमें लिखा था कि अमेरिका में कुछ लोगो ने भूत का ढोंग किया। जिसका चाहो, उसी का भूत शरीर में आ जाय। बहुत से लोग उनकी ठगाई में आ गये । दो मित्रो ने इस मामले की सच्चाई का पता लगाने का निश्चय किया । वे दोनो शरीर में भूत बुलाने वाले के पास गये । इनमें से एक की बहिन जीवित थी । उसने भूत बुलाने वाले से कहा—मेरी बहिन का भूत बुला दीजिये । भूत बुलाने वाले ने हो—हा किया और कहा—लीजिये, भूत आ गया । उसे आश्चर्य हुआ कि मेरी बहिन तो घर मे बैठी है । उसका भूत कहां से आ गया ?

दूसरे ने कहा—अच्छा, नैपोलियन का भूत बुलाइये। उसने नैपोलियन का भी भूत्त बुला दिया ।

अचानक दूसरा मित्र भूत बुलाने वाले पर छुरा लेकर झपटा । वह भागा । उसे आश्चर्य हुआ कि जो नैपोलियन का भूत है, वह छुरा लेकर दौड़ने से कैसे भागेगा ? फिर उसने शकराचार्य का भूत लाने को कहा । उसने उसे भी बुला दिया । दूसरे मित्र के मन मे वेदान्त विषयक कुछ ऐसी शकाए थी, जिनका उत्तर वह स्वय नही जानता था । उसने शकराचार्य के भूत से वे ही प्रश्न किये, परन्तु

शकराचार्य का कथित भूत कुछ उत्तर नही दे सका ।

दोनों मित्र समझ गये कि भूत बुलाने की बात निरी मिथ्या है, इसमें सिर्फ मानसिक भावना जगाने की शक्ति है।

मतलब यह है कि देवाभियोग का अर्थ यह नही है कि मनुष्य अपनी विषय–वासना की पूर्ति के लिये, स्वार्थ-सिद्धि के लिये ढोंग के चक्कर मे पड़ कर देवी-देवताओ के सामने अपना सिर टकराता फिरे । उसक अर्थ इतना ही है कि जब-जब देव की तरफ से जबर्दस्ती हो और उस समय यदि मिथ्या देव, गुरु, धर्म को सत्कार देना पड़े तो इसका आगार है ।

५—गुरु-निग्रह

गुरु दो प्रकार के होते हैं। एक तो माता–पिता आदि गुरुजन हैं और दूसरे धर्माचार्य गुरु हैं। श्रावक ससार में रहता है । उस समय उसके माता–पिता या धर्माचार्य को कोई कष्ट हो रहा हो, जो अल्प उपाय से न मिटता हो किन्तु किसी ढोगी को वन्दना–नमस्कार करने से ही मिट सकता हो तो ऐसे समय के लिए यह आगार है। कहा वत है—

बखत पड़े बाँका, गधे को कहे काका ।

इस कहावत के अनुसार ढोगी को भी हाथ जोड़ने पड़ते हैं, ढोगी की भी सेवा करनी पड़ती है । परन्तु ऐसा करने में श्रावक की नीयत उस ढोंगी की पूजा करना नहीं है, न वह ढोग को अच्छा समझता है, पर गुरुजन का कष्ट

मिटाने के लिए ऐसा करता है । अतएव उसका समकित दूषित नही होता ।

सत्यप्रतिज्ञ राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी रानी तारा ब्राह्मण के घर दासी का काम कर रही थी । ब्राह्मण के जवान लडके की नीयत विगड गई । वह धर्म सुनाने के वहाने तारा को भ्रष्ट करना चाहता था, परन्तु तारा समझ गई । उसने कहा—आप मुझे काम करने के लिए दासी वना कर लाए हैं, धर्म सुनाने को नहीं, लाए हैं । मैं वही कथा सुनती हूं, जिससे मेरा दासीपन का विरुद न विगड़े ।

तारा क्या शौक से उस ब्राह्मण की सेवा करती थी ? नहीं किन्तु पति के सत्य को निभाने के लिये करती थी । इसी प्रकार श्रावक स्वेच्छा से ढोंगी की सेवा नही करता । किन्तु उस ढोंगी ने गुरु को कष्ट दे रखा है, या दिला रक्खा है, इसी कारण गुरु का कष्ट मिटाने के लिए उस श्रावक को ढोंगी का आदर करना पड़ता है । ऐसी स्थिति में श्रावक का सम्यक्त्व दूषित नही होता है ।

६---वृत्तिकान्तार

कुछ लोग 'वृत्तिकान्तार' का अर्थ समझते हैं—जगल में दान दे-ा । उनके अभिप्राय से जगल में दान देना मना है, फिर भी यदि कष्ट मे पड कर जगल मे दान देना पड़े तो इसका आगार है ।

वास्तव में 'वृत्तिकान्तार' का अर्थ यह नहीं है । 'वृत्ति' या वित्ति शब्द का अर्थ आजीविका होता है और आजीविका

के गहनपने (कष्ट) का नाम वृत्तिकान्तार है। वृत्तिकान्तार का मतलब है आजीविका का खतरे में पड़ना। आजीविका खतरे में पड़ जाने के कारण अपने और अपने परिवार का जीवन संकट में पड़ जाय और ऐसी स्थिति में कुगुरु या कुदेव की सेवा करनी पड़े तो समकितधारी को इसका आगार है। क्योंकि वह समझता है कि है तो यह पाखण्डी ही, परन्तु आजीविका के कष्ट से मुझे सेवा करनी पड़ रही है।' ऐसा समझ कर सेवा करने से दोष नहीं लगता। यह आगार दान देने के निषेध के लिये नहीं है, बल्कि आजीविका संकट के कारण अन्यतीर्थों की सेवा करने के विषय में है। अनुकम्पा-दान तो सर्वत्र ही विहित है। निर्युक्ति में कहा है:—

सव्वेहिं पि जिणेहिं, जियदुज्जयरागदोषमोहेहिं।
सत्ताणुकंपणट्ठं, दाणं न कहिंचि पडिसिद्धं॥

अर्थात्—दुर्जय राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले जिनेन्द्रों से अनुकम्पादान का कहीं भी निषेध नहीं किया है।

इस विषय में टीकाकार कहते हैं:—

'भगवन्तस्तीर्थंकरा अपि त्रिभुवनैकनाथाः प्रविव्रजिषवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्त्येव दानमिति।

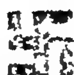
अर्थात्—त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भी जब दीक्षा लेने को तैयार होते हैं तो अनुकम्पा से वार्षिक दान देते हैं। वे एक वर्ष तक अपने दान की धारा बहाते रहते हैं।' दान देने का निषेध होता तो दीक्षा लेने को तैयार तीर्थंकर देव दान

क्या देते ? अनुकम्पादान में भी पाप होता तो तीर्थंकर पाप के आचरण का आदर्श क्यों उपस्थित करते ?

दया से प्रेरित होकर दान देना श्रावक का स्वाभाविक गुण है । श्रावक के हृदय में ऐसी कोमलता होती है कि वह किसी दीन-दुखी को देख कर सहज ही द्रवित हो जाता है और उसके दुख को दान द्वारा या अन्य उचित उपाय से दूर करने का प्रयत्न करता है । हमारे पास आने से स्वाभाविक गुण में वृद्धि होनी चाहिये । स्वाभाविक गुण को घटाना भी कहीं धर्म हो सकता है ?

सारांश यह है कि वृत्तिकान्तार आगार का आशय अटवी में दान देना नही है किन्तु आजीविका का खतरे में पड जाना ही है ।

समकित के ये छह आगार समकित की रक्षा के लिये हैं उनमें मे कोई-कोई आगार व्रतों के लिए भी है, सब नहीं । इन आगारो का सेवन करने मे भी सावधानी और विवेक रखने की आवश्यकता है । उदाहरणार्थ राजा अगर आज्ञा दे कि राज्य की आय को वढाने के लिये सब को शराव पीना चाहिए तो क्या राजाभियोग के अनुसार इस आज्ञा को मान लेना चाहिए ? नहीं, ऐसे प्रसग पर तो प्राण दे देना भला, पर शराव पीना भला नहीं । शराव न पीना उत्सर्ग धर्म है । उत्सर्गधर्म को राजाभियोग मे भी नहीं जाने देना चाहिये ।



सम्यक्त्व के चिन्ह



आरोपित सत्ता का पर्दा उठा कर पारमार्थिक सत्ता को जानने के लिए समकित धारण करने की आवश्यकता है। समकित का स्वरूप और उसके आगार बतलाये जा चुके हैं। यहां समकित का कुछ भीतरी रूप भी बतला देने की आवश्यकता है।

दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से आत्मा में उत्पन्न होने वाला अत्यन्त प्रशस्त समता रूप परिणाम सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व आत्मा का एक विशिष्ट परिणमन है, अन्तरंग वस्तु है। किसी को देख कर ही यह नहीं जाना जा सकता कि यह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है? ऐसी स्थिति मे सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि आखिर सम्यक्त्व की पहिचान क्या है? अर्थात् यह कैसे कहा जा सकता है कि समकित हुआ है या नहीं?

जैसे आग न दिखती हो और धुंआ दिखता हो तो उस धुंए के देखने से ही आग का अस्तित्व जान लिया

जाता है। इस प्रकार धुंआ आग का चिह्न है। इसी प्रकार प्रशम और सवेग आदि को देख कर समकित को भी जाना जा सकता है। प्रशम और सवेग आदि सम्यक्त्व के लिंग हैं।

१—प्रशम

कषायो की मन्दता होना प्रशम कहलाता है। अनन्तानुबधी कषाय का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है और अनन्तानुबन्धी कषाय ही सब कषायो में तीव्रतम है। अतएव वह नहीं रहता तो सम्यग्दृष्टि मे कषायो की वह तीव्रता भी नही रहती है। शास्त्रकार कहते हैं—

माई मिच्छदिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

यह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि कपट से भरा रहता है और इस बात पर गर्व करता है कि मैं पांव से बांध दूं तो कोई दात से भी नहीं खोल सकता। अर्थात् मिथ्यादृष्टि कपट करके गर्व करता है। जिसके अन्तरंग में ऐस कपट भरा है, समझना चाहिये कि उससे समकित दूर है। कोरा ढोंग करने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता।

पानी जब अपनी प्रकृति में रहता है, तब शीतलता और मीठापन उसका गुण होता है। उसमे शक्कर या नमक मिला देने पर वह अपनी प्रकृति मे नही रहेगा। इसी प्रकार चाहे मैला कपट किया जाय या उजला कपट किया जाय,

यानी चाहे लोगों को मालूम होने वाला कपट करे अथवा न मालूम होने वाला, वह कपट ही है और वह समकित का विरोध है। शुद्ध समकित तो अपनी प्रकृति में निष्कपट रहने में ही है।

२—संवेग

ससार बन्दीखाने के समान मालूम होना, ससार से घृणा-भाव रहना और इस जन्म-मरण रूप ससार के चक्र से बाहर निकलने को इच्छा रहना सवेग कहलाता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि ससार मे रह कर खाता, पीता और अन्य भी सासारिक कार्य करता है, परन्तु वह अपने सासारिक जीवन मे आसक्ति नही रखता। वह इन सब झंझटों से मुक्ति चाहता है। जैसे कैदी जेल मे रहता है, जेल का ही खाता-पीता है और जेल का काम करता है, किन्तु उसकी अन्तर को भावना जेल मे रहने की नही है। वह चाहता यही है कि कब मे इस कारागार से बाहर निकलू ? कभी-कभी कैदियो को मीठा भोजन भी मिल जाता है और कई लोगो को तो घर को अपेक्षा भी जेल मे ज्यादा आराम रहता है, फिर भी भावना तो उनकी भी जेल से निकलने की ही होती है। जेल का आराम भी दु:खदायी जान पड़ता है।

इस प्रकार ससार चक्र से छूटने की निरन्तर भावना का बना रहना ही सवेग है। जिसके हृदय मे सवेग है, वह सासारिक पदार्थो मे आसक्त नही हो सकता। वह मानो कहता है कि मैं ससार मे फसा हू, इस कारण संसार-भोगता

हूं, मगर मेरी इच्छा संसार से निकलने की ही है और वह दिन धन्य होगा, जब मैं संसार को त्यागूंगा। इस प्रकार भावना जिसमें है, उसी में समकित है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के नष्ट हुए विना यह भावना नहीं आ सकती।

भगवान् ने कहा है—सवेग से अनुत्तर धर्म-श्रद्धा उत्पन्न होती है और धर्म-श्रद्धा से शीघ्र ही सवेग उत्पन्न होता है, जीव अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है, नवीन कर्म नही बाधता और तत्कारणक मिथ्यात्व की विशुद्धि करके सम्यग्-दर्शन का आराधक बन जाता है। दर्शन-विशुद्धि से कोई-कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता है। कोई उस विशुद्धता से तीसरे भव को उल्लघन नहीं करता—दर्शन-विशुद्धि की वृद्धि होने पर तीसरे भव में सिद्धि मिलती ही है।

सवेग शब्द के सम्+वेग इस प्रकार दो भाग होते हैं व्युत्पत्ति के लिहाज से सम्यक् प्रकार का वेग 'सवेग' कहलाता है। हाथी, घोड़ा, मनुष्य मोटर वगैरह सभी में वेग होता है, मगर वेग-वेग में अन्तर है। कोई वेग गड्ढे में ले जाकर गिराने वाला होता है और कोई अभीष्ट स्थान पर पहुचाने वाला। जो वेग आत्मा को कल्याणक मार्ग पर ले जाता है, वही वेग यहां अपेक्षित है। भगवान् तो कल्याण की बात ही कहते हैं। भगवान् सब को सम्बोधन करके कहते हैं—'हे जगत् के जीवो ! तुम लोग दुःख चाहते हो या सुख की अभिलाषा करते हो ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कौन कहेगा कि हम दुःख में पड़ना चाहते हैं ? सभी जीव सुख के अभिलाषी है तब भगवान् कहते हैं—अगर

तुम सुख चाहते हो तो आगे बढो, पीछे मत हटो। सुख चाहते हो तो पीछे क्यो हटते हो ? सवेग बढ़ाए जाओ और आगे बढते चलो।

इस समय तुम्हारी बुद्धि का, मन का तथा इन्द्रियो का वेग किस ओर बह रहा है ? अगर वह वेग तुम्हे दुःख की ओर घसीटे लिए जाता हो तो इसे रोक दो और आत्म-सुख की ओर मोड दो। अधोमुखी वेग को रोक कर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाओ। यदि वेग सम्यक् प्रकार बढाया जाय तो ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। सवेग की सहायता बिना आगे कुछ भी नही किया जा सकता। इसलिए सर्व प्रथम तो यह निश्चय कर लो कि तुम्हे सुखी बनना है या दुखी ? अगर सुखी बनना है तो क्या दुख के मार्ग पर चलना उचित है ? मान लीजिये एक आदमी दूसरे गाव जाने लिये रवाना हुआ। रास्ते मे उसे दूसरा आदमी मिला उसने पूछा—भाई, तुम कहा जाते हो ? देखो, इस मार्ग में बाघ का भय है, इसलिये इधर से मत जाओ। ऐसा कहने वाला मनुष्य अगर विश्वसनीय होगा और जाने वाला अगर दुख में नही पडना चाहता होगा तो क्या वह निषिद्ध मार्ग मे आगे बढेगा ? नही, ऐसा होने पर भी अगर कोई उस मार्ग पर चलता है तो उसके विषय में यही कहा जायगा कि वह दुख का अभिलाषी है—सुख का अभिलाषी नही है।

सवेग निर्भय बनने का पहला मार्ग है। अगर अपना वेग ठीक (सम्यक्) रक्खा जाय तो भय होने का कोई कारण नही है। सवेग मे भय का कोई स्थान नही है।

संवेग में निर्भयता है और जो संवेग धारण करता है, वह निर्भय बन जाता है।

संवेग किसे कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। उसका सार इतना ही है कि मोक्ष की अभिलाषा और मोक्ष के लिये किया जाने वाला प्रयत्न ही संवेग है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला कर्म-बंधन को ढीला करने की भी इच्छा रखता है। कारागार को जो बंधन मानता है, वही उससे छुटकारा पाने की भी इच्छा करता है। कारागार को बंधन ही न मानने वाला उससे छूटने की भी क्यों इच्छा करेगा? बल्कि वह तो उस बंधन को और मजबूत करना चाहेगा। ऐसा मनुष्य कारागार के बन्धन से मुक्त भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस संसार को जो बन्धन रूप मानता है 'हस्त अशीरे कम्दे हवा' अर्थात् मैं इस लालच रूप दुनिया की जेल में हूं, ऐसा मानता है, उसी को मोक्ष की इच्छा हो सकती है। संसार को बंधन ही न समझने वाला मोक्ष की इच्छा ही क्या करेगा?

मोक्ष की अभिलाषा में सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। यद्यपि सब तत्त्वों पर अलग-अलग चर्चा की गई है किन्तु सब का सार मोक्ष की अभिलाषा होना' इतना ही है। मोक्ष की अभिलाषा उसी के अन्तःकरण में जागेगी जिसे संसार कड़ुवा लगेगा और जो संसार को बंधन समझेगा।

संवेग से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—संवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मश्रद्धा मोक्ष प्राप्ति का एक साधन है और यह साधन तभी प्राप्त होता है जब मोक्ष की आकांक्षा उत्पन्न होती है। जिसके हृदय में सवेग के साथ धर्म-श्रद्धा होती है वह कदापि धर्म से विचलित नहीं हो सकता, चाहे कोई कितना ही कष्ट क्यों न पहुचाए। ऐसे दृढ धर्मियो के उदाहरण शास्त्र के पष्ठों में उपलब्ध होते हैं।

सवेग से क्या मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने यह भी कहा है कि सवेग से धर्मश्रद्धा और धर्मश्रद्धा से संवेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार सवेग और धर्मश्रद्धा दोनों एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। दोनों में अविनाभाव संबध है।

जिस पुरुष को दुःखों से मुक्त होने की इच्छा होगी वह धर्मश्रद्धा द्वारा संवेग बढाएगा और सवेग द्वारा धर्मश्रद्धा प्राप्त करेगा। ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता। जिसे कड़ाके की भूख लगी होगी, वह भूख की पीड़ा मिटाने का प्रत्येक सभव उपाय करेगा। उसे ऐसा करना किसने सिखाया? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि भूख के दु ख ने ही यह सिखलाया है, क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कपडे किसलिये पहने जाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जायगा कि सर्दी–गर्मी से बचने के लिए और लज्जा–निवारण के लिए ही वस्त्र पहने जाते हैं। घर भी सर्दी–गर्मी से बचने के लिये बनाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमे फैशन को स्थान दिया जाता है, मगर उसके बनाने का मूल उद्देश्य तो यही है। इसी प्रकार जिसे संसार दुःखमय प्रतीत होगा, वह सवेग को धारण

करेगा ही और इस तरह अपनी धर्मश्रद्धा को मूर्त रूप दिये बिना नहीं रहेगा । जहां संवेग है वहां मोक्ष की अभिलाषा और धर्मश्रद्धा भी अवश्य होती है । इस प्रकार जहां सवेग है वहां धर्मश्रद्धा है और जहां धर्मश्रद्धा है वहां सवेग है । धर्मश्रद्धा जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से मुक्त होने का कारण है और संवेग भी इन दुःखो से मुक्त कर मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये ही होता है । इस प्रकार धर्मश्रद्धा और सवेग एक दूसरे के आधारभूत हैं— दोनो में अविनाभाव संबंध है ।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है । एक धर्मश्रद्धा संसार के लिए होती है और दूसरी सवेग के लिए । कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने आपको धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषों पर पर्दा डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोंग करते है । किन्तु भगवान् के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया सवेग के लिए नहीं है । इस प्रकार की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाय तो भी उससे कुछ लाभ नहीं होता ।

३—निर्वेद

आरंभ और परिग्रह से निवृत्त होने की इच्छा होना और सांसारिक भोग-विलासो के प्रति आन्तरिक अनासक्ति का भाव विद्यमान रहना निर्वेद कहलाता है । सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर दृष्टि निर्मल हो जाती है और अनन्तानुबंधी कषाय के नष्ट हो जाने से गहरी आसक्ति भी नहीं रह जाती है । ऐसी स्थिति मे निर्वेद का भाव स्वतः अंकुरित हो जाता है ।

निर्वेद जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु है। बिना निर्वेद के किसी का भी काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ—आप भोजन करने बैठे हैं। इतने मे आपके किसी विश्वास-पात्र मित्र ने आकर कहा—'इस भोजन मे विष है।' ऐसी स्थिति में आप वह भोजन नही करेंगे। इसी प्रकार विषय-भोगों के स्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाने पर सभी को निर्वेद उत्पन्न होता है। मगर जिस निर्वेद के साथ सवेग होता है, उस निर्वेद की शक्ति तो गजब की होती है। ज्ञानी जनों में सवेग के साथ ही निर्वेद होता है। जैसे आप विष-मय भोजन का त्याग कर देते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार के विषयसुख को विष मानते है और इसी कारण उन्हें सासारिक सुखो पर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है।

सच्चा निर्वेद या वैराग्य तभी समझना चाहिए जब विषयो के प्रति विरक्ति हो जाय और अन्त।करण मे तनिक भी विषयो की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना है।

किसी भी प्राणी को कष्ट देना आरभ है और पर-पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह है। आरम्भ और परि-ग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती है जव विषयभोगो से मन निवृत्त हो जाय। आरम्भ–परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को स्वीकार करके भव-भ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का परम्परा फल मोक्ष है और वह तात्कालिक फल विषय भोग से निवृत्त होना है।

शास्त्र कहता है कि आरंभ–परिग्रह ही समस्त पापो का कारण है। अपएव आरंभ–परिग्रह से बचने का प्रयत्न

करो, उल्टे उसमें फंसने की चेष्टा मत करो। अगर सांसारिक पदार्थों को ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो उनमें फसने की अभिलाषा ही न होगी। ससार के पदार्थ कामी पुरुषो के चित्त मे कामना उत्पन्न करते हैं और ज्ञानी पुरुषो के मन में ज्ञान पैदा करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आरम्भ परिग्रह का भले ही तत्काल त्याग न कर सके, किन्तु वह उन्हे उपादेय नही समझेगा और जो उपादेय नही समझता, उसी को सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

४—अनुकम्पा

अनुकम्पा सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। अपनी ओर से किसी भी प्राणी को भय या कष्ट न पहुचाना और दूसरे से भय या कष्ट पाते हुए जीव को उससे मुक्त करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है। अनुकम्पा धर्म की पहली सीढ़ी है। यह प्रायः सर्वमान्य धर्म है। अनुकम्पा के बिना धर्म की कल्पना ही नही की जा सकती। जो सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, उसके अन्त करण मे अनुकम्पा की पुनीत भावना जागृत न हो यह असम्भव है। यही कारण है कि अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण बताया गया है।

यो तो अनुकम्पा का गुण न्यूनाधिक परिमाण में प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान रहता है, किन्तु स्वार्थ के कारण हृदय में चचलता आने पर अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। गाय किसी को यहां तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी कसाई के हृदय में स्वार्थ या विषय वासना के कारण चंचलता उत्पन्न होती है तो वह निर्भयतापूर्वक

गाय की हत्या करता है । विषय वासना से हृदय में चंच-लता उत्पन्न होती है और चचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता है ।

जब सवेग की जागृति से ससार के प्रति विरक्ति जाग उठती है और निर्वेदभाव से विषय वासनाओं के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, तब चित्त की चंचलता हट जाती है और अनुकम्पा की अमृत-मयी भावना से हृदय पवित्र हो जाता है।

अनुकम्पा से जिसका हृदय पवित्र बन गया होगा. वह ऐसे वस्त्र कदापि न पहनेगा जिनकी बदौलत ससार में बेकारी बढ़े । वह ऐसा भोजन कदापि न करेगा जिसके कारण दूसरों को भूख के मारे तड़प-तड़प कर मरना पड़े । उसके प्रत्येक व्यवहार मे गरीबो की भलाई का विचार होगा । उसके हृदय में दुखियो के प्रति सवेदना जागृत होगी । वह उनके सुख के लिये प्रयत्नशील होगा, उनकी सहायता करेगा । वह दूसरो के दुख को अपना ही दुःख समझेगा । दूसरे की विपत्ति को अपनी ही आपत्ति मानेगा ।

कुछ लोगों ने अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य भेद करके दुखियो का दुःख दूर करने मे एकान्त पाप की कल्पना करली है, किन्तु यह मान्यता जैनागमों से विरुद्ध है । अनु-कम्पा हृदय की एक पावन वृत्ति है और वह किसी भी स्थिति में सावद्य नहीं होती । शास्त्रो में अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण प्रतिपादन करके यह सूचित कर दिया गया है कि अनुकम्पा के अभाव मे सम्यक्त्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ।

५—आस्तिक्य

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा परलोक, स्वर्ग, नरक तथा पुण्य और पाप को मानना आस्तिक्य कहलाता है। आत्मा यद्यपि स्वभाव से (द्रव्य से) अजर-अमर है, तथापि वह पुण्य और पाप का उपार्जन करके स्वर्ग और नरक आदि विविध पर्यायों को भोगता है। इस प्रकार-द्रव्य से नित्य होने पर भी पर्याय से वह एक भव को त्याग कर दूसरे भव को ग्रहण करता है। यह भवान्तर पुण्य और पाप का अस्तित्व स्वीकार किये बिना नहीं बन सकता, अतएव पुण्य-पाप तत्त्व भी हैं। इस प्रकार की आस्था रखना आस्तिक्य कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर आस्तिकता का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। जिसमें आस्तिकता नहीं है, समझना चाहिए कि उसमें सम्यक्त्व भी नहीं है।

आत्मा का अस्तित्व क्यों अंगीकार करना चाहिए और उसका अस्तित्व सिद्ध करने वाले प्रमाण क्या हैं? यह लम्बी चर्चा है। यह चर्चा यहां प्रासंगिक हो सकती है, परन्तु इतने विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त है कि आत्मा के विषय में प्रथम तो स्वानुभव ही प्रमाण है। फिर सर्वज्ञ देव का कथन भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। अनुमान प्रमाण से और तर्क से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। अगर आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका विधान और निषेध करता ही कौन? आखिर आत्मा का निषेध करने वाला भी तो आत्मा ही है!

इस प्रकार आत्मा और परलोक आदि पर श्रद्धा रखना भी समकित का लक्षण है। इन्ही पाच लक्षणो से सम्यक्त्व की पहचान होती है।

यहां यह बात विस्मरण न कर देनी चाहिए कि सम्यक्त्व देने या लेने की वस्तु नहीं है, वह तो आत्मा की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाला गुण हैं। सम्यक्त्व लेना तो व्यवहार मात्र है। वीतराग की वाणी पर अडिग श्रद्धा रखने और दर्शन, मोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय को नष्ट करने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है।



सम्यक्त्व के अतिचार



प्राप्त हुए सम्यक्त्व को निर्मल रूप से कायम रखने के लिए पांच अतिचारों से बचना चाहिए। वे पांच अति-चार इस प्रकार हैं—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचि-कित्सा (४) परपाखण्ड प्रशंसा और (५) परपाखण्ड संस्तव।

१—शंका

शंका दो प्रकार की है—देशशंका और सर्वशंका। किसी पदार्थ विशेष के किसी धर्म के सम्बन्ध में शंका होना देशशंका है और उस पदार्थ के अस्तित्व मे ही शंका होना सर्वशंका है। उदाहरणार्थ-आत्मा त्रिकाल में असंख्यात प्रदेशों वाला है। पर किसी को ऐसी शंका हो कि आत्मा का अस्तित्व तो है, पर न जाने वह असख्यात प्रदेशी है या नहीं? आत्मा सर्वव्यापी है, परमाणु-मात्र है अथवा अपने प्राप्त शरीर के बराबर है? इस प्रकार की शंकाए देश शकाए हैं। और क्या पता है कि आत्मा का अस्तित्व है या नही? इस प्रकार की शका सर्वशंका है।

आत्मा है या नहीं है। यह शंका इन्द्रभूति जी को भी थी। भगवान् ने उनके बिना कहे ही उनकी शंका प्रकट करदी। इन्द्रभूति आश्चर्य में पड़ गये। वह विचारने लगे-मैंने अनेकों वादियों को जीता है। नास्तिक को आस्तिक-वाद से और आस्तिक को नास्तिकवाद से जीता है। लेकिन मेरे मन की बात इस तरह कोई नही जान सका!

भगवान् ने इन्द्रभूति से कहा—आत्मा के विषय में और सब बातें छोड़कर तुम केवल इसी बात पर विचार करो कि आत्मा न होती तो आत्मा के विषय में शंका ही कौन करता? आत्मा है, तभी तो उसे अपने विषय मे शंका होती है। फिर शंका-समाधान का यह खेल ही न होता।

इन्द्रभूतिजी दुराग्रही नहीं थे। इसलिए भगवान् की बात मान कर उन्होंने अपनी शंका दूर कर दी।

इस प्रकार की शंका सर्वशंका है और यह सम्यक्त्व को नही होने देती या उसे नष्ट कर देती है।

शंका को त्याग कर विश्वास करने और शंका रख कर अविश्वास करने से क्या लाभ-हानि है, यह बताने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए:—

एक सेठ ने सिद्ध की सेवा की। सिद्ध ने प्रसन्न होकर सेठ को एक विद्या बताकर कहा—शरद् पूर्णिमा की रात्रि में एक झाड़ के नीचे भट्टी खोद कर उस पर तेल का कडाहा रखना और नीचे आग जलाना। फिर झाड़ पर सूत का सीका बांध उसमे बैठ जाना और मन्त्र का जाप करते हुए

एक-एक सूत तोडते जाना । जब सब सूत टूट जाएंगे, तब तुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी । और यदि शका करेगा तो मर जायगा ।

सेठ मालदार था । उसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने की आवश्यकता नही थी । अतएव उसने सिद्ध का बतलाया हुआ मन्त्र, विधि सहित लिख रखा । सेठ मर गया । उसके लड़के ने सब धन उड़ा दिया । एक दिन वह पिता के जमाने के कागजात देख रहा था । उसमे लिखी हुई वह विद्या उसे मिल गई । वह लड़का मन्त्र साधन की सामग्री लेकर एक बाग मे गया । वहा उसने वृक्ष के नीचे तेल का कड़ाहा भी चढा दिया । वह सूत का सीका बांध कर झाड़ पर चढा भी परन्तु सीके में बैठने के समय उसे डर मालूम हुआ । उसे शका हुई, कही मेरे बैठने पर सीका टूट गया तो बेमौत मारा जाऊंगा । इस भय के कारण वह कभी पेड़ पर चढता, कभी उतरता था ।

उसी नगर मे एक चोर ने चोरी की । लोग जाग गये और चोर के पीछे दौड़े । भागता हुआ चोर उसी बाग में घुस गया । दौड़ने वालों ने बाग को चारों ओर से घेर लिया ।

सेठ के लडके को बार-बार पेड पर चढते-उतरते देख चोर ने ऐसा करने का कारण पूछा । लडके ने उसे सब बात बतला दी । चोर ने सोचा बाप अपने बेटे को खोटी शिक्षा कभी नही दे सकता । फिर उस लड़के को चोरी करके लाया हुआ रत्न का डिब्बा देकर कहा, यह विद्या मुझे साधने दो ।

सेठ के लड़के ने सोचा अपने लिए तो रत्नों का डिब्बा ही काफी है। इस खतरनाक विद्या को सीखने के झमेले में कौन पड़े। आखिर उसने वह डिब्बा ले लिया। चोर विद्या साधने में लग गया। थोड़ी ही देर में उसने विद्या साध ली और आकाशगामिनी विद्या की सहायता से वह उड़ गया। रत्नों का डिब्बा लिये सेठ का लड़का बाग से बाहर निकला। लोगों ने उसे 'चोर-चोर' कह कर पकड़ लिया। उसने बहुतेरा कहा कि मैं चोर नहीं हूं। पर उसकी बात सुनने को कोई तैयार नहीं था।

इसी तरह गुरुदेव ने आध्यात्मिक विद्या देकर कहा है कि इस विद्या का जाप करते रहना और एक-एक तार तोड़ते जाना। सब तार टूट जाने पर सिद्धि प्राप्त हो जायगी। अगर इस विद्या को पा करके भी शंका ही शंका में रहा तो यों ही रह जायगा और यदि शंका न लाकर विद्या को साध लेगा तो परम ऊर्ध्वगामी बन जाएगा। जो गुरु की दी हुई विद्या पर विश्वास रखता है वह उस चोर की तरह पार हो जाता है और जो उस पर अविश्वास करता है, वह फस जाता है। जो संशय रखता है वह संसार में भटकता फिरता है।

संसार-भ्रमण के आदि हेतु का नाम मिथ्यात्व है। शंका या संशय भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के तीन भेद हैं, आभिग्रहिक मिथ्यात्व, अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व और संशय-मिथ्यात्व। झूठी जिद पकड़ लेना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जिद न हो पर निर्णय भी न हो तो अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है और तत्त्व में शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व है।

अर्हन्त के प्रवचन की और सब बाते मान करके भी जो एक बात के विषय मे भी शकायुक्त होता है, वह अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। जो मोक्ष की इच्छा रखता है और अपना कल्याण चाहता है उसे वीतराग की वाणी पर लेश मात्र भी सन्देह न रख कर पूर्ण श्रद्धा रखना चाहिए। उसे विचारना चाहिए:—

तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।

जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है और वही असंदिग्ध है। प्रश्न होता है कि जो बात हमारी समझ में नहीं आई है, उसे सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धा रख कर मानने के लिए कहना, एक प्रकार की जबरदस्ती है। इसके उत्तर मे हम युक्तिपूर्वक सिद्ध करेंगे कि सर्वज्ञ के वचन सन्देह रहित हैं।

जो वीतराग और सर्वज्ञ है, उसके वचन सत्य ही होते हैं। जिनमे रच मात्र भी कषाय और अज्ञान शेष नही रहा है, वह कदापि असत्य भाषण नही कर सकते। अतएव जिन अनुभव मे आने वाले पदार्थों को सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानते हो, अनुभव से परे पदार्थों को भी उन्ही सर्वज्ञ के वचन के आधार पर मानो। उनके विषय में सन्देह मत रक्खो। आप किसी आदमी पर विश्वास रखते है और उसे सत्यभाषी मानते हैं, उसकी पच्चीस बातो मे से बीस बातें आपको जंच गई, परन्तु पाँच बातें नहीं जंचती हैं। परन्तु जब आप उसे सत्यभाषी समझते हैं तो उन बीस बातो की सच्चाई के आधार पर न जंचने

वाली पांच बातों को भी सत्य ही मानना चाहिए। यदि आप न जचने वाली पांच बातो को सत्य नही मानते हैं, तो फिर आपकी दृष्टि मे वह पुरुष सत्यभाषी नहीं ठहरता। इसी प्रकार वीतराग की कही हुई और बाते तो आपको जचती है, परन्तु कोई बात नही जचती तो भी उस न जंचने वाली बात के विषय मे सन्देह न रखकर, जिस आधार पर और बातों को ठीक मानते हो, उसी आधार पर उस ठीक न जचने वाली बात को भी ठीक मान लेना उचित है। समझना चाहिए कि—'हे आत्मन्! तू यह न समझ कि सब बातों का निर्णय मैं ही करलू । मतिदौर्बल्य या क्षयोपशम की हीनता के कारण तू ऐसा करने का अधिकारी नहीं है। तेरे मतिज्ञान आदि पर आवरण है, अतएव तू कुछ बातो और सब पदार्थों का निर्णय नही कर सकता। तू कुछ बातो का प्रत्यक्ष से निर्णय कर सकता है, कुछ के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना पड़ेगा और कुछ के लिए आगम प्रमाण को ही मानना होगा। जैसे आगामी काल के विषय मे तू प्रत्यक्ष से कुछ भी नही जानता, किन्तु अनुमान से तो आगामी काल को मानता ही है। दीवाल के पीछे कुछ है यह बात तू अनुमान से ही मानता है। तू छद्मस्थ है अभी तुझे पूर्ण ज्ञान नही है। इस कारण तू सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष नही देख सकता, फिर भी अनुमान से मानता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ की कही हुई सब बातो को तू साक्षात् नही देख सकता, फिर भी उन्हे सर्वज्ञोक्त होने के कारण ही मान ले।'

संशय किस प्रकार मिट सकता है, यह बताने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है—

दो विद्यार्थी पढ कर घर आये । माता ने उनके लिए पेय पदार्थ तैयार किया । उनमे से एक ने विचार किया-यद्यपि यह माता है, फिर भी क्या मालूम इसने इसमें विप मिला दिया हो ! कई माताए अपने लड़कों को जहर देकर मार भी तो डालती हैं ! इस प्रकार संशय रख कर भी उसने वह पेय पी लिया और संशय के कारण ही वह मर गया ।

दूसरे ने सोचा मां कभी जहर नहीं दे सकती । वह तो अपने लड़के को अमृत ही देती है । इस प्रकार अमृत की भावना रख कर उसने पिया तो उसके लिए वह अमृत रूप ही परिणत हुआ ।

इस प्रकार भावना के कारण ही पहला विद्यार्थी मर गया । विष न होने पर भी विप की शका मात्र से उस पदार्थ ने विष का काम किया ।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि कृष्णाकुमारी को पहले दूध की तरह का विपप्याला दिया गया था । उसके मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था । वह दूध समझ कर उसे पी गई तो विष होते हुए भी उस पर विष का असर नहीं हुआ । दूसरी वार भी उसके मन मे सन्देह नहीं था, अतएव दूसरे विष-प्याले का भी उस पर कुछ प्रभाव न पड़ा। किन्तु तीसरा प्याला उसने विष समझ कर ही पीया, इससे वह मर गई । इस प्रकार संशय न होने पर जहर ने भी अमृत का काम किया और विद्यार्थी ने अमृत मे भी जहर का सदेह किया तो वह मर गया ।

अमेरिका के अन्वेषक डाक्टरों ने एक मृत्युदण्ड प्राप्त कैदी मागा। उन डाक्टरो ने उस कैदी को मेज पर सुला दिया। फिर उसकी आंखो पर पट्टी बाध दी। इसके बाद उन्होने गर्दन पर जरा सा औजार लगा दिया और जहां औजार लगाया था, उसी जगह से नल के द्वारा पानी गिराया। यद्यपि वे पानी बहा रहे थे, पर कहते थे—बहुत खून गिर रहा है! अब यह नही बचेगा, बस मरने ही वाला है! इस प्रकार डाक्टरो की बात सुन कर और पानी को खून समझ कर वह कैदी मर गया। कैदी के शरीर में से रक्त की एक भी बूंद नही निकली थी, लेकिन डाक्टरों के कथन पर वह विश्वास कर रहा था, इसी कारण मर गया।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार फल प्राप्त होता है अगर आप वीतराग के वचन पर प्रगाढ श्रद्धा रक्खेंगे तो सुफल ही प्राप्त होगा।

अठारह दोषो को पूर्ण रूप से जीत लेने वाले परमात्मा अरिहन्त या वीतराग कहलाते है। अठारह दोष इस प्रकार है:—

(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) क्रोध (४) मान (५) माया (६) लोभ (७) रति—विषयो के प्रति अनुराग (८) अरति—धर्म के प्रति अरुचि (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य (१२) चौर्य (१३) मात्सर्य (१४) भय (१५) हिंसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य।

इन दोषो के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत

होगा कि इनमें से अधिकांश मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। अज्ञान ज्ञानावरण कर्म के और निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय का फल है। अतएव जिसने चारो घाति कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसमे कोई भी दोष नही हो सकता और जैनागमों के अनुसार अरिहन्त पद का अधिकारी वही है जिसने घाति कर्मों का क्षय कर दिया हो। इस प्रकार अरिहन्त या वीतराग देव, पूर्ण रूप से निर्दोष होने के कारण यथार्थ वक्ता हैं और उनके वचनों पर शंका करने का कोई कारण नहीं।

अठारह दोषों से रहित वीतराग के वचन पर शंका तो होनी ही नहीं चाहिए। आत्मा जब तक किसी वस्तु में निःसन्देह नहीं बनता तब तक उस वस्तु को अपना भी नहीं सकता। उदाहरण के लिए पति और पत्नी को ही लो। किसी पुरुष का किसी स्त्री के साथ विवाह हो चुका है। मगर पत्नी सोचती रहती है—न जाने पति मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगा? इस प्रकार वह पति पर शंका करती हुई यही सोचा करे कि यदि मेरे साथ ऐसा-वैसा व्यवहार हुआ तो मैं इसे तलाक दे दूंगी और दूसरा पति बना लूंगी।

और पति भी अपनी पत्नी के प्रति सशंक बना रहे। वह सोचे-कहीं यह भोजन मे विष मिलाकर मुझे न दे दे! तो इस प्रकार का शंकामय दाम्पत्य जीवन कितने दिन निभेगा? वह ज्यादा दिन निभने वाला नहीं और जितने दिन निभेगा भी, वह सुखशान्तिमय नहीं रह सकेगा। सन्देह का आधिक्य होने के कारण अमेरिका मे ९५ प्रति-

शत विवाह–सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं। एक तरफ विवाह हुआ और दूसरी तरफ तलाक हुआ। भला यह भी कोई विवाह है ! मतलब यह है कि जब तक पारस्परिक विश्वास न होगा; किसी भी दशा में जीवन मे शान्ति नहीं मिल सकती। इसी से कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

अर्थात्—सदा सन्देह मे डूबा रहने वाला नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार जब व्यवहार में भी सन्देह रहने से काम नहीं चलता तब धर्म में जिस वस्तु को अच्छी समझते हैं, उस पर शका रखने से काम कैसे चलेगा ? सन्देह होने पर सम्यक्त्व का टिकना सम्भव नहीं।

कहा जा सकता है—सन्देह करने से एकान्त हानि नही लाभ भी होता है। नीतिकार कहते हैं—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—सशय पर आरूढ हुए बिना मनुष्य का कल्याण नहीं होता। भगवान् गौतम स्वामी के लिए भी कई जगह 'जायससए' पाठ आया है। इसका अर्थ यह है कि उन्हे सशय उत्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति मे सशय को एकान्त विनाशक भी कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि शका या सशय का प्रादुर्भाव दो प्रकार से होता है—श्रद्धापूर्वक भी और अश्रद्धापूर्वक भी।

गौतम स्वामी को जो संशय हुआ था, वह श्रद्धापूर्वक था। उन्हें भगवान् के वचन की सत्यता मे सशय नहीं था। उन्हे जो सशय हुआ था, वह इस रूप मे था कि भगवान् का वचन ऐसा है या नही ? अमुक विषय मे भगवान् क्या कहते हैं ? इस सन्देह मे अश्रद्धा नही, श्रद्धा ही गर्भित है। इस प्रकार की शका सम्यक्त्व का नाश करने वाली नही है। यह अश्रद्धा से नहीं, जिज्ञासा से उत्पन्न होती है। इससे तत्त्व के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है और लाभ उठाया जाता है। ऐसी ही शका के लिए कहा गया है कि सशय के बिना मनुष्य का कल्याण नहीं होता।

दूसरे प्रकार की शका जो अश्रद्धा से उत्पन्न होती है, मनुष्य को नाश की ओर ले जाती है। उससे कोई लाभ नहीं होता, हानि ही होती है। क्या धर्म और क्या व्यवहार सभी कुछ उस शका के कारण गड़बड़ में पड जाते हैं। किसी आदमी को रेलगाडी मे बैठ कर सफर करना है, परन्तु कभी-कभी रेलगाडी आपस में लड़ जाती है या उलट जाती है। इस बात को लेकर वह शका करने लगे तो कैसे सफर कर सकेगा ? वह जिस मकान मे रहता है, उसके गिर पड़ने का ही जिसे रात-दिन सशय बना रहेगा तो वह कब शान्ति मे रह सकेगा ? इसी आशय मे कहा गया है—

शंकाभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या, जीवितव्यं कथं नु वा ॥

इस भूतल पर भोजन, पानी आदि सभी वस्तुएं

शंकामय हैं। फिर मनुष्य कहां प्रवृत्ति करे और कैसे जीवित रहे ?

वास्तव में सन्देहशील व्यक्ति का जीवन निभ नहीं सकता। किसी लड़की को विवाह करना है, परन्तु उसे यह संशय बना रहे कि कहीं पति मर जाय और मैं विधवा हो जाऊं तो ? संशय की इस स्थिति में विवाह कर लेने पर भी क्या वह सुखी रह सकेगी ? मतलब यह है कि अश्रद्धा-जन्य संशय से मनुष्य-जीवन निभ नहीं सकता।

यह ठीक है कि मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करे तो उसमें आने वाली अड़चनों पर भी विचार कर देखे और उनके विषय में सावधानी रक्खे, परन्तु संशय में ही न पड़ा रहे।

श्रद्धा के बल पर ही मन्त्र आदि काम करते हैं। मैंने बचपन में डूंठी मन्त्र का सीखा था और पेट पर हाथ फेर कर ही डूंठी ठिकाने ला देता था। थोड़े दिनों में मेरी प्रसिद्धि हो गई। लोग मुझे बुलाने लगे। काम में हर्ज होने लगा। मेरे गृहस्थावस्था के मामाजी ने मुझसे कहा—यह क्या धन्धा फैला रक्खा है ? काम-काज को छोड़ कर वृथा जाना पड़ता है। मैंने सोचा—अब मैं बिना मन्त्र पढ़े ही लोगों के पेट पर हाथ फेर दिया करूंगा, जिससे उनकी डूंठी ठिकाने न आया करेगी और मैं बुलाये जाने से बच जाऊंगा। मैं ऐसा ही करने लगा बिना मन्त्र पढ़े हाथ फेरने लगा। फिर भी लोगों की डूंठी ठिकाने आ जाती थी। अब विचार कीजिए कि मन्त्र न पढ़ने पर भी डूंठी के ठिकाने आ जाने का कारण रोगी का मन्त्र पर विश्वास

होने के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसके विरुद्ध, अगर कोई व्यक्ति मन्त्र पर अविश्वास करता है तो उस पर मन्त्र काम नहीं देता। इससे सिद्ध है कि विश्वास फलदायक होता है।

अब एक नवीन प्रश्न पर विचार करें। कहा जाता है कि शास्त्र अलग-अलग हैं, उनके उपदेशक भी अलग-अलग हैं और उनके विचार भी अलग-अलग हैं। वे परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं। ऐसी दशा मे हम किस पर विश्वास करें और किस पर न करें ? उसी शास्त्र की दुहाई देकर एक दूसरे के गले पर छुरी फेरने को कहता है और दूसरा ऐसा करने के लिए मना करता है। हम किसे सत्य मानें ? क्या करें ?

इस प्रकार के झगड़ो के कारण कई लोग तो धर्म से ही विमुख हो गये है। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, इसके लिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा से ही पूछो। अपने अन्तरात्मा की आवाज सुन कर आप सत्य को स्वीकार कर लेंगे और झूठ को त्याग देंगे। वैसे तो हीरा और काच समान ही दिखते हैं, परन्तु रगड कर देखने से दोनों की वास्तविकता की परीक्षा हो जाएगी और तब सशय को स्थान नही रहेगा।

परीक्षा करने के विषय में शास्त्र कहता है कि उन सिद्धान्तों मे तो कभी सन्देह नही करना—जिनमे तपस्या, अहिंसा और क्षमा बतलाई है।

जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसियं।

इन सिद्धान्तो को तो अपनी परीक्षा की कसौटी बनाना । फिर जो बात इस कसौटी पर खरी उतरे उसे ले लेना और जो खरी न उतरे, उसे छोड़ देना ।

वक्ता की परीक्षा से भी वचन की परीक्षा होती है। जो वक्ता निर्दोष है, जिसमें राग-द्वेष और अज्ञान नहीं है, उसका वचन यथार्थ ही होगा और जो वक्ता रागी है, द्वेषी है, अज्ञानी है, उसका वचन यथार्थ ही हो, यह नही कहा जा सकता । विभिन्न शास्त्रो में वर्णित देवो का स्वरूप समझ कर फिर उनके वचनो का अदाज लगाना सरल हो जाता है । सच्चा देव वह है जो सर्वज्ञ और वीतराग है और उसी की वाणी कल्याणकारिणी हो सकती है ।

अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो वीतराग भगवान् की वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन मे स्थान दो । भगवान् की वाणी को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा । भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है । इस सम्बन्ध में भगवान् ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला है । भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम थे । वे मर्यादा को भग नही कर सकते थे । उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचने पावे । ठोक-पीट कर समझाने से सामने वाले को कष्ट पहुचता है । ऐसी स्थिति मे भगवान् किसी को जबर्दस्ती कैसे समझा सकते थे ? भगवान् अभग अहिंसा का परिपालन करते थे। किसी का दिल दुखाना भी हिंसा है, इसीलिए भगवान् ने

किसी पर जोर-जवरदस्ती नहीं की। उन्होंने समुच्चयरूप मे सभी को कल्याणकारी उपदेश दिया है। जिन्होंने भगवान का उपदेश माना उन्होंने अपना कल्याण-साधन कर लिया। जिन्होने ऐसा नही किया, वे अपने कल्याण से वंचित रह गये।

कई-एक चीजें श्रेष्ठ होती है, परन्तु दूसरो को कष्ट न पहुचाने के विचार से बलात् नही दी जा सकती। भगवान् की यह वाणी कल्याणकारी होने पर भी किसी को जवरदस्ती नही समझाई जा सकती; अतएव भगवान् ने समुच्चयरूप मे ही उपदेश दिया है।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग बतलाया है, उस मार्ग पर जाने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार है। श्रद्धा का अर्थ किसी बात को निःसदेह होकर मानना है। अमुक बात ऐसी ही है, इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई वार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है, मगर ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नही चलता। अतएव सिद्धान्त-वचनो पर हृदयपूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित् सिद्धान्त-वचनो पर प्रतीति हो जाय तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नही होता। व्यवहार मे आये विना प्रतीति मात्र से सिद्धान्तवाणी पूर्ण लाभप्रद नही होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्तवाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डाक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई मगर प्रतीति नही। प्रतीति तब होगी जब उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया जाय। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण देखने से प्रतीति उत्पन्न होती है। डाक्टर निस्पृह और अनुभवी है, इस विचार से दवा पर श्रद्धा तो उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तब होती है। जब उसी दवा से दूसरे का रोग मिट गया है, यह जान लिया जाय। मान लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई तो ऐसी दशा मे रोग कैसे नष्ट होगा ? रोग का नाश करने वाली दवा पर रुचि रखकर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता है। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाय नियमोपनियम का पालन किया जाय और अपथ्य सेवन न किया जाय, दवा से लाभ होगा ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशसा की जाय तथा दवा सेवन करने में किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूंढ कर अपनी भूल सुधार ली जाय तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता है, अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय है ?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हैं, जिन्होने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत्‌जीवो को जन्म जरा-मरण आदि भव-रोगों से मुक्त करने के लिए

अहिंसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज की थी। उन महावैद्य महावीर भगवान् ने जन्म जरा-मरण आदि भव-रोगों से पीडित जगत्-जीवों को रोगमुक्त करने के लिये इस प्रवचन रूपी अमोघ औषध का आविष्कार किया है। सबसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी, ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायगा ? भगवान् की सिद्धान्तवाणी को सभी लोग विवेक की कसौटी पर नहीं कस सकते। सब लोग नहीं समझ सकते कि भगवान् की वाणी मे क्या माहात्म्य है ? अतएव साधारण जनता के लिये एकमात्र लाभप्रद बात यही है कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करें। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी, तब तक लाभ भी नही हो सकता। इस कारण श्रद्धा को सब से अधिक महत्त्व दिया गया है। गीता में भी कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः

अर्थात्—पुरुष श्रद्धामय है-श्रद्धा का ही पुंज है जो जैसी श्रद्धा करता है वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार से भी सिद्ध होती है। दर्जी के काम की श्रद्धा रखने वाला दर्जी बन जाता है और जो लुहार का काम करने की श्रद्धा रखता है वह लुहार बन जाता है। साधारण रूप से सिलाई का काम तो सभी कर लेते है परन्तु इस प्रकार का काम करने से कोई दर्जी नही बन जाता और न कोई अपने आपको दर्जी मानता ही है। इसका कारण यह है कि सिलाई का काम करते हुए भी हृदय मे उस काम की श्रद्धा नहीं

है अर्थात् वह काम श्रद्धानपूर्वक नहीं किया जाता । अगर वही सीने का काम श्रद्धापूर्वक किया जाय तो दर्जी बन जाने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता ।

कहने का आशय यह है कि सर्वप्रथम भगवान् रूपी महावैद्य की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता है । सिद्धान्तवाणी के विरुद्ध विचार नहीं होना चाहिए और साथ ही वाणी के ऊपर प्रतीति--विश्वास होना चाहिए । इस सिद्धान्तवाणी के प्रभाव से पापियो का भी कल्याण हो सकता है, ऐसा विश्वास दृढ होना चाहिए । भगवद्वाणी के अमोघ प्रभाव से अर्जुन माली और चडकौशिक सांप आदि पापी जीवों के कर्म-रोगों का नाश हुआ है । भगवान् की वाणी पर प्रतीति-विश्वास करने के बाद रुचि भी होनी चाहिए । कोई कह सकता है कि भगवान् की वाणी द्वारा अनेक पापी जीवो के पापो का क्षय हुआ है, यह तो ठीक है किन्तु उस वाणी पर रुचि लाना अर्थात् उसे जीवन व्यवहार में उतारना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । मगर यदि भगवान् की वाणी पर रुचि उत्पन्न नहीं हो तो समझना चाहिए कि अभी तक श्रद्धा और विश्वास में न्यूनता है । जो रोगी भय के कारण औषध का सेवन ही नहीं करता, उसका रोग किस प्रकार मिट सकता है ? सांसारिक जीव भगवान की वाणी को जीवन व्यवहार में न लाने के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं । यों तो अनादि काल से ही जीव उन्मार्ग पर चलकर दु:ख भुगत रहे हैं, मगर उनसे कहा जाय कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन करलो तो सदा के लिये दु:ख से छूट जाओगे तो वे ऐसा करने को तैयार नही होते और इसी कारण वाणी रूपी औषध की

विद्यमानता में भी वे कर्म-रोगों से पीडित हो रहे हैं ।

भगवान् की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करने के अनन्तर उसकी स्पर्शना भी करनी चाहिए । अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्तवाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने में ही उनका उपयोग करना चाहिए । इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भगवद्-वाणी को जितने अंश मे स्वीकार किया हो तो उतने अंश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढते हुए भगवद्वाणी के पार पहुंचना चाहिए।

आज बहुत से लोग आरम्भशूर दिखाई देते हैं । लोग किसी कार्य को प्रारम्भ तो कर देते है किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोट बैठते हैं । ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नही कर सकते । महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ में लेते ही नही हैं और जिस काम मे हाथ डालते हैं उसे भयकर से भयकर कष्ट आने पर भी अधूरा नही छोडते ।

इस प्रकार सिद्धान्तवाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारंगत होना चाहिये और फिर यह वाणी जैसी कही जाती है, वैसी ही है । मैं इस वाणी का पालन करके पार नही पहुंच सकता था किन्तु भगवान् की कृपा से पार पहुचा हू, इस प्रकार कहकर भगवद्वाणी का सकीर्तन करना चाहिये । भगवद्वाणी को आचरण मे उतारते किसी प्रकार का दोष हुआ हो तो उसका संशोधन करना चाहिए, किन्तु दूसरे पर दोषारोपण नही करना चाहिए । तत्पश्चात 'आज्ञा गुरूणा सलु पारणीया' इस कथन के अनुसार गुरुओं की आज्ञा को

शिरोधार्य समझ कर भगवान् की वाणी का आज्ञानुसार पालन करना चाहिए।

अपनी बौद्धिक दृष्टि से देखने पर इस शास्त्र के कोई कोई वचन समझ में न आवें यह संभव है, परन्तु शास्त्र के वचन अभ्रान्त हैं। इसलिए इन सिद्धान्त-वचनों पर दृढ विश्वास रखकर उनका पालन किया जाय तो अवश्य ही कल्याण होगा। कहा जा सकता है कि हमारे पीछे दुनिया-दारी की अनेक झंझटें लगी हैं और इस स्थिति में भगवान् के इन वचनों का पालन किस प्रकार किया जाय ? ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिये कि भगवान् क्या उन झंझटों को नहीं जानते थे ? इस पंचमकाल को और इसमें उत्पन्न होने वाले दुःखों को भगवान् भली-भांति जानते थे और इसी कारण उन्होंने दुःख से मुक्त होने के उपाय बतलाये हैं। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम में नहीं लाता और सिद्धान्त-वचनों पर श्रद्धा नही करता तो वह दुःखों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ?

हम लोग कई बार सुनते हैं कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषों ने विविध प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, परन्तु वे महापुरुष कभी ऐसा विचार तक नही करते कि सत्य के कारण ये कष्ट सहने पडते हैं तो हमें सत्य का त्याग कर देना चाहिए। महापुरुषों का यह आदर्श अपने समक्ष होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करें तो यह हमारी कितनी बडी अपूर्णता कहलायेगी ? अतएव भगवान् की वाणी को अभ्रान्त समझकर उस पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि करो और विचार करो कि भगवान का हमारे

ऊपर कितना करुणाभाव है कि उन्होने हमारे कल्याण के लिये ये वचन कहे हैं : भगवान अपना निज का कल्याण तो बोले विना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए ही उन्होने यह सिद्धान्तवाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर हमे विश्वास करना ही चाहिए ।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है मगर संसार मे चमत्कार के विना नमस्कार नही देखा जाता अतएव हमे कोई चमत्कार दिखाई देना चाहिए । इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि शास्त्रीय चमत्कार बतलाया जाय तो उपदेश ही है और अगर व्यावहारिक चमत्कार वतलाया जाय तो वह भी तभी माना जायेगा जब कि वह बुद्धि में उतर सके । अगर बुद्धि में न उतरा तो वह भी अमान्य ही ठहरेगा । यह बुद्धिवाद का जमाना है। यह जमाना विचित्र है । जो लोग शास्त्र सुनने आते हैं उनमें से भी कुछ लोग ही सचमुच शास्त्र सुनने आते हैं और कुछ लोग यह सोचकर आते हैं कि वहा जाने से हमारे अवगुण दब जाएगे और हमारी गणना धर्मात्माओ मे होने लगेगी। यह बात इस खोटे जमाने से ही नही वरन् भगवान् महावीर के समय से ही चली आती है । भगवान् के समवसरण मे आने वाले देवो मे भी कितनेक देव भगवान् के दर्शन करने आते थे और कितने ही देव दूसरे अभिप्राय से आया करते थे । दूसरे अभिप्राय से आने वाले देवो में कुछ देव तो इसलिए आते थे कि भगवान् के पास जाकर अपनी शकाओ का समाधान कर लेंगे, कुछ देव अपने मित्रो का साथ देने के लिए आते थे और कुछ देव भगवान् के पास जाना अपना जिताचार-आचार-परम्परा समझ कर आते थे।

इस प्रकार भगवान् के समय मे भी ऐसी घटनाए हुआ करती थी ।

यह हुई परोक्ष की बात । प्रत्यक्ष मे भी व्याख्यान में आने वाले लोग भिन्न-भिन्न विचार लेकर आते हैं । लोग किसी भी विचार से क्यो न आवें, अगर भगवान् की वाणी का एक भी शब्द उनके हृदय को स्पर्श करेगा तो उनका कल्याण ही होगा । भगवान् को वाणी का चमत्कार ही ऐसा है । पर विचारणीय तो यह है कि जब आये ही हो तो फिर शुद्ध भाव ही क्यो नही रखते ? अगर शुद्ध भाव रक्खोगे ता तुम्हारा आना शुद्ध खाते मे लिखा जाएगा । कदाचित् शुद्ध भाव न रक्खे तो तुम्हारा आना अशुद्ध खाते मे लिखा जायगा । तो फिर यहा आकर अशुद्ध खाते मे अपना नाम क्यो लिखाना चाहते हो ? । इसके अतिरिक्त भगवान की वाणी सुनकर वह हृदय मे धारण न की गई तो भगवान की वाणी की आसातना ही होगी । अतएव भगवान की वाणी हृदय मे धारण करो और विचार करो कि मनुष्य अपना मुख आप नही देख सकता, इस कारण उसे आदर्श-दर्पण की सहायता लेनी पड़ती है । भगवान की वाणी दर्पण के समान है । मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर धो सकता है । उसी प्रकार भगवान की वाणी के दर्पण मे अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हे धो डालो । भगवान की वाणी का यही चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है । अगर तुम अवगुण दूर करके गुण-ग्रहण की विवेकबुद्धि रक्खोगे तो भगवान की वाणी का चमत्कार तुम्हे अवश्य दिखाई देगा । इसलिए भगवान की

वाणी पर दृढ विश्वास रखकर उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

शास्त्र मे कही–कही इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है जैसे भगवान से प्रश्न किये गये हो और भगवान ने उनका उत्तर दिया हो, और कही-कही ऐसा है कि भगवान स्वय ही फरमा रहे हो। परन्तु यह वात स्पष्ट है कि भगवान ने जो वात अपने ज्ञान मे देखी है वही वात कही है और यह वात उन्होने कभी कभी विना पूछे भी कही है। मगर जो वात उन्होने अपने ज्ञान मे नही देखी वह पूछने पर भी नही कही।

इस प्रकार जिन भगवान की वाणी पर अखण्ड श्रद्धा रखना उचित है। श्रद्धा न रखने से शका नामक सम्यक्त्व का दोप होता है

२–कांक्षा

चाह, अभिलापा या कामना को काक्षा कहते हैं। अभिलापा अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है, परन्तु यहा उस बुरी अभिलाषा का जिक्र है जो सम्यक्त्व को मलिन बनाती है। शका की ही भांति काक्षा भी दो प्रकार की होती है-देशकाक्षा और सर्वदेशकाक्षा। 'बौद्ध दर्शन अच्छा है, उसे क्यो न स्वीकार कर लिया जाय। इस प्रकार की काक्षा सर्व देशकाक्षा है। और किसी अन्य दर्शन की किसी अश मे काक्षा होना देशकाक्षा है।

इस प्रकार की काक्षा करने वाले यह नहीं देखते कि

हम दूसरे दर्शन की कांक्षा करते हैं, परन्तु हमारे दर्शन में क्या बुराई है। अगर कोई बुराई नहीं है तो फिर दूसरे दर्शन की चाह करना कैसे उचित कहा जा सकता है? कभी किसी और कभी किसी दर्शन की इच्छा करते रहने से जीवन व्यवस्थित नहीं हो सकता। जो मनुष्य कभी एक मार्ग पर चलना आरम्भ करता है और फिर उसे छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलने लगता है और फिर उसका भी त्याग करके तीसरी राह पकड़ लेता है, वह अपनी मंजिल तक कैसे पहुच सकता है? हाँ, जिसने आरम्भ मे गलत रास्ता अख्तियार कर लिया है, वह उसे छोड़कर सही रास्ते पर आ जाय, यह तो उचित है, पर सही रास्ते पर चलते-चलते मन मे तरग उठी और रास्ता बदल लिया तो अपने लक्ष्य से दूर पड़ जाना होगा। इस प्रकार मन की क्षणिक तरगों पर नाचना विवेकवान् का कर्त्तव्य नही है।

जिसने एक पुरुष को पति के रूप में स्वीकार कर लिया है, वह उसे छोड़कर अगर दूसरे को पति बना ले तो आप उसके कार्य को योग्य समझेंगे? महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने कर्ण को देखकर यह इच्छा की थी कि कर्ण का जन्म कुन्ती के पेट से हुआ होता तो मैं इन्हे भी अपना छठा पति बना लेती। इस कांक्षा के कारण वह अपने सतीत्व से गिर गई। तब श्रीकृष्ण ने उसे प्रायश्चित्त कराया। यह बात नहीं थी कि कर्ण मे गुण नहीं थे, परन्तु एक सती के लिए इस प्रकार कांक्षा करना उसके सतीत्व के लिए दूषण है।

कहा जा सकता है कि चित्त की शुद्धि करना ही धर्म का सार है और बौद्धदर्शन आदि में भी चित्त की शुद्धि का मार्ग

बतलाया है। ऐसी स्थिति मे बौद्धदर्शन को मानें तो क्या और जैनदर्शन को मानें तो क्या ? शास्त्रकार इस कथन के उत्तर में कहते हैं–बौद्धदर्शन या किसी अन्य दर्शन में चित्त॰ शुद्धि का मार्ग बतलाया है तो अच्छी बात है, परन्तु तू यह देख कि जैनदर्शन में चित्त की शुद्धि का मार्ग बतलाया गया है या नहीं ? इसके सिवाय, यह देख कि जैन दर्शन में चित्तशुद्धि का उत्कृष्ट मार्ग बतलाया गया है या निकृष्ट ? अगर जैनदर्शन में चित्तशुद्धि का श्रेष्ठ मार्ग प्रतिपादन किया गया है तो क्या कारण है कि तू अन्य दर्शन की आकांक्षा करता है ? आज निष्कारण ही अगर दूसरे दर्शन की आकांक्षा करता है तो कल तीसरे दर्शन की आकांक्षा करने लगेगा और तेरा जीवन अस्तव्यस्त हो जायगा।

हमे किसी अन्य दर्शन से घृणा नहीं है, फिर भी हम यह पूछते हैं कि जैन दर्शन में क्या अपूर्णता है, जिससे अन्य दर्शन की आकांक्षा की जाय ? तुझे अल्पबुद्धि के कारण अगर अपूर्णता दिखती है तो किसी ज्ञानी से समझ।

वस्तुत: कांक्षा होने के कारण इहलोक और परलोक सम्बन्धी चाह है। तत्त्व के लोभ से धर्मपरिवर्त्तन करने वाले बहुत कम होते हैं। अधिकांश लोग धन, स्त्री आदि के लोभ से ही धर्म परिवर्त्तन करते हैं। मगर इस प्रकार की आकांक्षा करना अज्ञान का लक्षण है।

कहा जा सकता है कि जैनधर्म तो त्याग की रूखी बातें बतलाता है, लेकिन जब आत्मशुद्धि के लिए तप और त्याग अनिवार्य है तो क्या उनका विधान न किया जाय ? और ऐसा कोई मन्त्र बता दिया जाय कि जिसके जपने से

सब कामनाए पूर्ण हो जाया करें ? अगर जैनधर्म ऐसा विधान करने लगे तो वह भवभ्रमण मिटाने वाला नही रहेगा भववृद्धि करने वाला हो जायगा । ऐसा विधान करने वाला धर्म, धर्म नही कहला सकता ।

मध्य युग मे जैनो में भी चमत्कार घर कर गया था। वह चमत्कार का युग ही था । परन्तु ऐसा करने में जैनत्व की खूबी नहीं रही, उलटे इस चक्कर मे पडने से निषिद्ध वस्तु ग्रहण करनी पड़ी । वास्तव मे जैनधर्म तो इस लोक और परलोक सम्बन्धी चाह का निषेध करता है ।

चाह के कारण बडी बडी ठगाइया चलती हैं । सुना है, देवगढ़ के ठग कोटा-नरेश को भी ठग कर ले गये । उस ठगे जाने का कारण था कांक्षा । कांक्षा करने वाले धर्म पर स्थिर नही रह सकते ।

कह सकते हो कि हम ससारी हैं, गृहस्थ हैं । हमे सभी कुछ चाहिये । परन्तु विचार करो कि क्या कांक्षा करने से ही सब कुछ मिलेगा ? और कांक्षा न करने से नहीं मिलेगा ? अगर तुम समझते हो कि कांक्षा न करने से नहीं मिलेगा तो तुम भूलते हो । कांक्षा न करने से वस्तु करोड गुणी मिलेगी । सवर सामायिक आदि धर्माचरण करके कांक्षा करने से परलोक तो नही बनेगा, इहलोक भी बिगड जायगा ।

धन दौलत, पत्नी-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए परमात्मा की प्रार्थना करना भी कांक्षा है । इस प्रकार की कांक्षा मोक्ष के लिए किये गये कार्य को भी तुच्छ बना देती है और उसमें निकृष्टता लादेती है । इसके अतिरिक्त धर्माचरण के बदले में यदि सांसारिक सुखो की आकांक्षा की

और कर्मोदय से सांसारिक सुख न मिला तो धर्म के प्रति अरुचि हो जाती है। इस प्रकार इस कांक्षा दोष की बदौलत धर्म भी चला जाता है। भक्त तुकाराम कहते हैं—

भाग्य साठीं गुरु केला, नाहीं अम्हासीं फलला ॥१॥
याचा मन्त्र पडता कानी, अमचा पाणी ॥२॥
गुरु केला घर वासी, अमुच्या चुकल्या गाई म्हसी॥३॥
स्वामी आपुली वुट—वुट दयावी, अमुची यानी ॥४॥
'तुका' म्हणे ऐसे नष्ट, त्यांसी दूठो होती कष्ट ॥५॥

एक किसान ने किसी को इस अभिलाषा से गुरु बनाया कि इन्हे गुरु बना लेने से मेरा भाग्य खुल जायगा। मुझे धन मिलेगा। मेरे कुंएं में पानी भर जायगा और खाइया भी भर जाएगी, जिसमे खूब खेती होगी। उसने गुरु मन्त्र सुनाने को कहा। गुरु ने गुरु-मन्त्र सुना दिया। संयोगवश उसी रात को खूब पानी बरस गया, जिससे उस किसान को बहुत हानि हुई। किसान सोचने लगा-आज ही गुरु बनाया और आज ही यह हानि हो गई। मेरी गाय-भैंसें भी चली गई। इस हानि के कारण गुरु ही हैं। तब वह गुरुजी के पास गया और बोला-अपना गुड़-गुड का मन्त्र वापिस ले लो और मेरे यहा पहला ही प्रताप रहने दो। गुरु ने कहा-मैं कब तेरे पाव पड़ने गया था कि मेरा मन्त्र सुन ही ले!

मतलब यह है कि कांक्षा करने वाले लोग, कांक्षा के कारण धर्म से भी विमुख हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र में

कहा है कि इस लोक या परलोक सम्बन्धी कांक्षा मत करो। यही बात दूसरे ग्रंथों में भी कही है। गीता में लिखा है—

ते ते भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥

वेदत्रयी में कहे हुए धर्म का आचरण करके, स्वर्ग में जाकर देव बनने और भोग भोगने की कामना रखने वाला मनुष्य, चाहे स्वर्ग चला भी जाय, परन्तु वहां कुछ ही दिन रह कर, अन्त में नीचे गिरेगा और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ेगा।

आचारांग सूत्र में भी कहा है—

'कामकामी खलु अयं पुरिसे जूरइ,
तिप्पइ, पीडइ, अणुपीडइ।

जो कामकामी है, जो धर्म करके बदले में सांसारिक फल चाहता है, वह सोचेगा, झूरेगा और बार-बार कष्ट पाएगा। अतएव धर्म करके किसी भी फल की कांक्षा नही करनी चाहिए।

अरिहन्त भगवान ने कांक्षा का निषेध किया है। भगवान की आज्ञा के अनुसार ही धर्म का पालन किया जाता है और भगवान ने धर्म करके कांक्षा करने से रोका है। ऐसी स्थिति में धर्म करके कांक्षा करने वाला व्यक्ति आराधक कैसे रह सकता है? कांक्षा करने वाले की श्रद्धा कितनी ही दृढ और पवित्र हो, परन्तु उसे अरिहन्त भाषित धर्म की श्रद्धा मे अतिचार लग ही जाता है।

कदाचित् कहा जाय कि इच्छा तो होती ही है, परन्तु

धर्म के बदले में सांसारिक भोगोपभोग की इच्छा नही रखनी चाहिए । इच्छा हो भी तो जन्म-मरण से छुटकारा पाने की ही इच्छा होनी चाहिए ।

प्रश्न हो सकता है-इच्छा चाहे मोक्ष की ही क्यों न की जाय, आखिर है तो वह इच्छा और तृष्णा ही ? इसका उत्तर यह है कि एक इच्छा तो बन्धन में डालने वाली होती है और एक इच्छा बन्धन से निकलने की होती है । मोक्ष की इच्छा बन्धन से निकलने की है । इसलिए इस कांक्षा से सम्यक्त्व में दूषण नही लगता । साधना की उच्चतम स्थिति में पहुंच जाने पर वह इच्छा भी नष्ट हो जाती है । कहा भी है—

यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति ।

जो इच्छा से सर्वथा रहित हो जाता है, जिसके हृदय मे मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती, वही मोक्ष को प्राप्त करता है ।

प्रारम्भिक दशा मे भले मोक्ष की इच्छा रहे, मगर मोक्ष के सिवाय और कोई सासारिक इच्छा, जिससे सम्यक्त्व मलीन होता है नही होनी चाहिए ।

कहा जा सकता है—हम गृहस्थ हैं, अतएव हमें धन स्त्री, पुत्र आदि की कामना रहती है और विशेषतः इन्ही की प्राप्ति के लिए कष्ट भी उठाते हैं । फिर यदि हम धर्म के द्वारा ही इन्हे चाहें तो क्या बुराई है ? इसके उत्तर मे कहना है-तू सिद्धान्त की बात मानता है या अपने मन की बात मानता है । यदि सिद्धान्त की बात मानता है तो धर्म करके कांक्षा मत कर । कांक्षा करने से ही इष्ट पदार्थ मिले

और कांक्षा न करने से न मिले, ऐसी बात नहीं है।

इष्ट पदार्थों की प्राप्ति पुण्य से होती है। पुण्य दो प्रकार का है—सकांक्ष और निष्कांक्ष। सकांक्ष पुण्य अच्छा नहीं होता। उसके निमित्त से धन या पुत्र मिल भी गया तो लड़का प्रायः खराब निकलता है और धन प्रायः पाप में डालने वाला होता है।

कांक्षा की पूर्ति के लिए धर्म या पुण्य करने की बात कुगुरुओं की चलाई हुई है और उसका परिणाम यह हुआ कि लोग धर्म को भूल ही बैठे हैं। कई साधुओं ने सोचा कि यों तो श्रावक हमारे चंगुल में नहीं फंसते, अतएव उन्होंने भी पाखण्ड फैलाया कि ऐसा करो तो ऐसा होगा। लेकिन इस प्रकार के पाखण्ड से धर्म की हानि ही हुई है। भगवान ने तो कहा है कि चाहे राजकुल में से निकल-कर और राज्य त्याग कर भी मुनि हो, तब भी यदि तप करके वह किसी प्रकार की कांक्षा करता है तो उसका त्याग-तप वृथा है। जब भगवान ने मुनि के लिए भी ऐसा कहा है तो कांक्षा करने से श्रावक का सम्यक्त्व में अतिचार क्यों नहीं लगेगा ?

किरातार्जुनीय काव्य को देखो तो मालूम होगा कि जैनधर्म कितना व्यापक धर्म है। जब अर्जुन तप कर रहे थे, तब एक ओर तो उनके हाथ में धनुष और बाण था और दूसरी ओर जंगल में वे ऐसे घोर तप में मग्न थे कि तिलोत्तमा जैसी अप्सरा भी उन्हें विचलित न कर सकी। बल्कि जब तिलोत्तमा शरीर खोल कर अपना रूप-सौन्दर्य दिखलाने लगी, तब अर्जुन ने उससे कहा—अगर मैं तुम्हारे उदर से जनमा होता तो मैं भी ऐसा सुन्दर होता ! अर्जुन

की बात सुनकर तिलोत्तमा चली गई। फिर इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके आया और अर्जुन से कहने लगा—

हे अर्जुन! मुझे आश्चर्य होता है कि कहां तुम्हारा तप और कहां तुम्हारे हाथ में धनुष-बाण! तप करते हो तो तपस्वी का वेष धारण करो और आयुध रखते हो तो दूसरे काम करो। तुम आयुध पास रख कर भी तप करते हो, इससे जान पड़ता है कि तुम मोक्ष के लिये नहीं, किन्तु युद्ध में विजयी होने के लिये तप कर रहे हो। अगर मेरा अनुमान सत्य है तो तुम्हारा यह तप तुच्छ है। तप मोक्ष के लिये होना चाहिये और तुम तप करके वैरी का विनाश चाहते हो।

यः करोति वधोदर्का· निःश्रेयसकरी क्रियाः।

ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः, स मूढः पङ्कयत्यपः॥

मोक्ष देने वाली क्रियाओं का जो हिंसा या वध के उद्देश्य से करता है, वह मूर्ख है। वह निर्मल जल को भी मानो मलिन करता है।

जिस पानी में मलिन वस्तु को भी स्वच्छ कर देने का गुण है, जो शीतलता देने वाला और तृषा बुझा देने वाला है, उसे मैला बना देने वाला बुद्धिमान कहा जायगा या मूर्ख?

'मूर्ख!'

इन्द्र कहता है—हे अर्जुन! इसी प्रकार जिस तप से अनन्तकाल की तृष्णा नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त होता है, उसे संसार-कामना के लिए क्यों करते हो? ऐसा तप करके

सांसारिक कामना करना पानी को कीचड में मिलाने के समान है। अतएव ससार के लिये तप करके तुम तप को मलिन मत करो।

किरातार्जुनीय के इस कथन से भी स्पष्ट है कि कांक्षारहित तप ही करना चाहिये। कांक्षा न होने पर क्रिया का फल उत्कृष्ट ही मिलेगा। सासारिक वैभव तो कीचड़ है। आत्मोन्नतिरूप धर्म–जल को इस कीचड़ में मिलाना ठीक नही। सोचना चाहिये कि अनन्त बार चक्र–वर्ती का राज्य भी मिला और उससे भी सन्तोष न हुआ तो दूसरे सांसारिक पदार्थ मिलने पर कैसे सन्तोष हो सकता है? जो प्यास क्षीरसागर के जल से भी नहीं मिटती, वह गटर के पानी से कैसे मिट सकती है? फिर कांक्षा करके धर्म को क्यो बिगाड़ा जाय?

प्रश्न हो सकता है कि अर्जुन का तप ससार के लिए था तो चक्रवर्तियो का तप किसलिए था? इसका उत्तर यह है कि यह तो भावना पर निर्भर है। चक्रवर्तियो का तप ससार के लिये भी हो सकता है और मोक्ष के लिये भी हो सकता है। कई चक्रवर्ती मोक्ष गये हैं और कई नरक गये हैं। इस अन्तर का कारण भावना है। इस पर भी कदाचित् चक्रवर्ती ने ससार की भावना से तप किया हो तो भी सम्यग्दष्टि के लिये तो यह कार्य अतिचार रूप ही है। इसके सिवाय, उनका तप व्रत रूप नहीं था, तब धर्म के लिए रहा ही कहां?

सबसे पहले आप इस बात पर विचार कीजिए कि आपको धर्म के द्वारा सांसारिक भावनाए बढ़ानी है या

सांसारिक भावनाओं का त्याग करना है ? अगर सांसारिक भावनाएं बढानी हैं तो फिर उन्हें बढ़ाने के साधन तो और भी बहुत से हैं। धर्म को कलुषित करने की क्या आवश्यकता है ? अगर सांसारिक भावनाएं घटानी है तो फिर सांसारिक पदार्थों की कामना क्यों करते हो ?

सौ बात की एक बात यह है कि आप आत्मशुद्धि और मुक्ति की पवित्र भावना से धर्म का आचरण कीजिए। इस प्रकार आचरण करने से जो सांसारिक सुख मिलने हैं, वे तो मिल ही जाएंगे, वे कहीं भागने वाले नहीं है। फिर धर्माचरण के उत्कृष्ट फल से वंचित होने की क्या आवश्यकता है ? किसान धान्य के लिये खेती करेगा तो क्या उसे भूसा नहीं मिलेगा ? मिलेगा। पर उस किसान को आप क्या कहेंगे जो भूसे के लिये ही खेती करता है ? जो सांसारिक पदार्थों की आकांक्षा से प्रेरित होकर धर्मक्रिया करते हैं, वे भूसे के लिये खेती करने वाले किसान के समान हैं।

इस प्रकार समझ कर कांक्षा का त्याग करने वाला श्रावक ही निरतिचार सम्यक्त्व का धारक हो सकता है ?

३—विचिकित्सा

विचिकित्सा एक प्रकार का मतिभ्रम है। युक्तिसिद्ध आगम के अर्थ पर तो विश्वास हो जाय, परन्तु उसके फल के संबंध में सन्देह बना रहे तो इसे सम्यक्त्व का विचिकित्सा नामक अतिचार समझना चाहिये। उदाहरण के लिए शास्त्र में अहिंसा और सत्य का पालन करना तो सिद्ध है, लेकिन

यह संदेह रहा कि इनका पालन करने पर भी फल मिलेगा या नही क्योकि देखते है कि झूठ का आचरण करने वाला आनन्द उडाता है और सत्य का सेवन करने वाला कष्ट भोग रहा है ! इस कारण झूठ की ओर रहें या सत्य की ओर ? इसी प्रकार अहिंसा-अहिंसा करके जैनियो ने राज्य डुबो दिया और हिंसा करने वाले मौज करते हैं। तब हिंसा को मानें या अहिंसा को ? इस प्रकार फल सबंधी सन्देह को विचिकित्सा कहते हैं ।

प्रासगिक रूप मे मुझे कहना है कि पहले जैनों की अहिंसा पर दोषारोपण किया जाता था । लाल लाजपत-राय के दादा ने इस (स्थानकवासी) सम्प्रदाय मे साधु-दीक्षा ली थी, पर साम्प्रदायिक संकीर्णता देखकर लालाजी अलग हो गये और जैनधर्म की अहिंसा को दोष देने लगे । उन्होंने एक लेख में लिखा था कि अहिंसा-राक्षसी ने हमारे अनेक नवयुवको के प्राण ले लिये हैं । जब गांधीजी ने अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, तब भी लालाजी ने उसका विरोध किया । मगर गांधीजीं के अहिंसात्मक आन्दोलन का क्रिया-त्मक रूप देखकर कौन उसका विरोध कर सकता था ? गांधीजी ने लाजपतराय के प्रश्नों का जो उत्तर दिया उसका भी उन पर असर पडा । अन्त में लाजपतराय भी अहिंसा के भक्त हो गये ।

मतलब यह है कि आगम पर विश्वास तो किया, परन्तु धर्म का फल संसार में देखने लगे तो यह विचिकित्सा है । जैसे-एक अहिंसावादी का सिर कटते देखकर विचार करना कि अहिंसा पालने वाले का तो सिर कट जाता है ।

वात को दूसरा रूप देना और कायरता पर धार्मिकता का रंग चढा देना भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है। विचिकित्साग्रस्त मानस विचार करता है—यह रेत के कौर के समान नीरस धर्मकार्य हम करते तो हैं, परन्तु कौन जाने इनका फल मिलेगा या नहीं ? क्योंकि क्रिया सदा सफल नहीं होती। किसान बीज बोता है, किन्तु कभी फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता ?' धर्मकार्य करके इस प्रकार विचार करना विचिकित्सा है।

परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि पक्के किसान को अपने बोये बीज के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नही रहता। बारह वर्ष तक बराबर दुष्काल पड़ते रहने पर भी किसान बीज बोया करता है। उसे यह विश्वास रहता है कि खेती से अनाज पैदा होता है। इसके सिवाय किसान किस आधार पर मान ले कि इस वर्ष भी दुष्काल ही पड़ेगा ?

इस तरह जिन्हें अपने कार्य के फल पर विश्वास है, वे निस्सन्देह कार्य करते रहते हैं लेकिन जिन्हें विश्वास नही है, वे कार्य को ठीक मान कर भी फलविषयक सन्देह के कारण कार्य करने मे उत्साहवान् नहीं होते। बहुत से आदमी सोचते हैं कि हमने साधु की सेवा की पर कोई फल नहीं निकला तो अब साधु के यहा जाएं या नहीं ? जान पड़ता है इन साधुओ में कोई चमत्कार नहीं है। जाना तो वहां चाहिए जहा चमत्कार हो !

इस प्रकार बनियाई मे धर्म करने वाले को सन्देह बना रहता है और किसान की तरह धर्म करने वाले को सन्देह नहीं होता।

दुष्काल पडने पर भी यदि कोई किसान आपसे पूछे कि मैं बीज बोऊं या नहीं ? तो आप उसे क्या राय देंगे ? यही कहेंगे कि दुष्काल खेती से नही निकला है, यह तो किसी अदृश्य शक्ति से पडा है। उस अदृश्य शक्ति से घबरा कर दृश्य शक्ति को छोड देना वौर बीज न बोना कैसे उचित है ? बहिनों से कभी-कभी रसोई बनाते-बनाते बिगड़ भी जाती है। कभी रोटी जल जाती है और कभी खिचडी में नमक ज्यादा हो जाता है। लेकिन आज रसोई बिगड गई तो क्या वह कल नही बनाएगी ?

'बनाएगी ही !'

क्योंकि यह विश्वास है कि जो खराबी हुई है, वह गलती से हुई है और भोजन बनाये बिना तैयार नही हो सकता। इसी प्रकार आपको भी विश्वास होना चाहिये कि धर्म करते हुए भी जो कष्ट आए हैं, वे कष्ट धर्म के कारण नहीं आए हैं, किन्तु किसी दूसरी गलती या पूर्वजन्म के पाप के कारण आये हैं।

लोगों का चित्त किस प्रकार मिथ्याभ्रम में पड जाता है, यह बात स्वामी रामतीर्थ ने एक उदाहरण देकर समझाई है। एक विद्यार्थी कॉलेज की छुट्टियों मे अपने घर गया। घर ग्राम मे था। घर मे पुराने विचार की एक बुढिया थी। वह लडके से कहा करती थी कि अमुक लक्षण बुरा है आदि-आदि। लडका अपने साथ एक घडी लाया था। बुढिया ने कभी घडी देखी नहीं थी। अत: उसने लड़के से पूछा—यह क्या है ? लडके ने कहा—घडी है। बुढिया ने ।—इसमें यह 'टक्-टक्' क्या होता है ? लडके ने उत्तर

दिया, इसके पुर्जे । बुढिया ने कहा—तू झूठ बोलता है । इसके भीतर कोई बैठा है, वह 'टक्-टक्' करता है ।

बुढिया को रात भर यह चिन्ता रही कि लडका नये विचार का है, अपने साथ न जाने क्या बला ले आया है ? संयोग की बात की उस लडके के छोटे भाई को बुखार आ गया । बुढिया ने विचारा कि लड़के के बुखार का कारण वह बला ही है । यदि घर मे से बला न गई तो इस लड़के का बुखार भी नही जाएगा । सवेरे लड़के का बुखार बढ गया और बुढिया का घडी के प्रति सदेह बढ़ गया । उसने उस घड़ी को चुराया और एक पत्थर पर रख कर दूसरे पत्थर से फोड़ते हुए कहा—बला, जा ।

इत्तिफाक की बात ! लड़के का बुखार भी चला गया । बुढिया का विश्वास पक्का हो गया । उसने कॉलेज से आए हुए लडके से कहा—अब कभी इस प्रकार की बला अपने साथ मत लाना, नही तो मैं तुझे घर मे भी आने न दूंगी ।

क्या बुढिया का यह वहम ठीक था ?

'नही !'

आप लोगो मे भी ऐसे बहुत से वहम घुसे हुए हैं । वहम के कारण जिस प्रकार बुढिया ने घडी नष्ट की, उसी प्रकार आप भी वहम घुस जाने पर सद्‌गुणो को नष्ट करते हैं और धर्म का त्याग कर देते हैं । लोग कार्य—कारण पर विचार नही करते और किसी भी कार्य का कोई भी कारण समझ बैठते हैं । इससे परम्परा बिगड जाती है ।

गजसुकुमार मुनि ने दीक्षा ली और उनके सिर पर

जलते हुए अंगार रखे गये। इसमें किस का दोष था? क्या दीक्षा का दोष था?

'नही!'

यदि आप इसमे सयम का दोष नहीं समझते तो फि अपने समय ऐसा ही क्यो नही विचारते? आप तो किर्स बुराई के आने पर सद्गुणो को ही दोष देते हो और धर्म प अविश्वास करने लगते हो!

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि मिथ्या त्वमोहनीय कर्म का उदय जहाँ होता है, वही शका कांक्षा और विचिकित्सा आदि दोष उत्पन्न होते है।

प्रश्न होता है—बुद्धिमान् लोग प्रत्येक कार्य के फल के विषय मे विचार करते हैं, फिर फल के विषय मे सदेह करना मिथ्यात्व- मोहनीय कर्म का उदय कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप फल के विषय में विचार कर सकते है, पर सदेह क्यों करें? उसकी कामना करने से भी क्या लाभ है? आपको यही विचार करना चाहिये कि मैंने जो कार्य किया है, वह अरिहन्त के उपदेशानुसार किया है या उपदेश से विरुद्ध? यदि उपदेशा-नुसार ही किया है तो फिर फल के विषय में सदेह क्यो है? जिन अरिहन्त के उपदेश के अनुसार कार्य किया है वे तो सर्वज्ञ हैं न? जब उनकी सर्वज्ञता पर विश्वास हो चुका है, तब फिर उनके वचनानुसार किये हुए कर्म के फल मे सदेह क्यो है? जिनको हमने सम्पूर्ण ज्ञानी माना है, उनको कही

हुई बात के विषय मे सन्देह तो होना ही नहीं चाहिये। वल्कि सम्पूर्ण भाव से निस्सदेह रहना चाहिए और कोई वात समझ मे न आवे, तव भी कहना चाहिए—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

लोग हथेली पर पेड उगाना चाहते हैं, अर्थात् धर्म-कार्य का फल तत्काल देखना चाहते है। लेकिन वास्तव मे—

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

साधना का फल प्राप्त करने में अनेक जन्म वीत जाते है, अतएव फल प्राप्ति मे उतावल करना योग्य नही है।

विचिकित्सा को सम्यक्त्व का अतिचार कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि विचिकित्सा करने मे सम्यक्त्व नष्ट तो नहीं होता, किन्तु उसकी दशा उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार तालाव का पानी पवन से उछालें खाता है, किन्तु पाल के कारण तालाव के वाहर नहीं जा पाता। फिर भी ऐसा जल स्थिर नही कहला सकता। इसी प्रकार श्रावक सामाजिक विचार आदि के कारण श्रद्धा मे वधा हुआ है' श्रद्धा अभी त्यागी नही है, परन्तु चित्त में स्थिरता नही है। भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा में विचिकित्सा होने से भी मनुष्य धर्म से गिर सकता है।

आजकल के वहुत से लोग शंका और कांक्षा में ही पड़े हैं और इनसे बचे हुए वहुत से विचिकित्सा मे पड़ जाते हैं। इसी कारण कई लोग धर्म को गाली भी देते हैं। मगर ऐसे लोग वे ही हैं जो धर्म को नहीं समझते।

एक बुद्धिमान् ने अपने लेख में लिखा था कि परमात्मा के घर देर भले ही हो, पर अंधेर नहीं है। लेकिन ज्ञानियों का कथन है कि धर्म मे अंधेर तो है ही नही, देर भी नहीं है। लोग इधर कर्म करते हैं और उधर फल चाहते हैं, इसी कारण धर्म के प्रति अश्रद्धा होती है। परन्तु धर्म का फल समय पर ही मिल सकता है। वह असमय में नही मिल सकता और न असमय मे चाहना चाहिये। असमय में कोई भी बात होने से दुर्व्यवस्था होगी। किसान मक्की बोकर उसी समय फल नही चाहता। मक्की को फल लगने मे साठ-सत्तर दिन की जो मर्यादा है, उसके बाद ही वह फल चाहता है। मगर लोगो को धर्म का फल उसी समय चाहिये। आज धर्म किया और आज ही उसका फल मिल जाना चाहिए, उसकी स्वाभाविक काल-मर्यादा उन्हें सह्य नहीं। लेकिन मर्यादाहीन कार्य किसी मतलब के नहीं होते। वे कार्य बाजीगर के तमाशे के समान हो जाएगे। बाजीगर उसी समय आम का पेड़ लगा देगा और उसी समय उसमे फल भी लगा देगा, परन्तु उस पेड़ और उन फलों का अस्तित्व कितनी देर रह सकेगा? वह फल काम के होते तो बाजीगर भीख ही क्यो मांगता फिरता?

तत्काल फल की इच्छा रखने वाले लोग धर्म रूपी वृक्ष को उखाड़-उखाड़ कर देखते हैं और फिर धर्म के प्रति अश्रद्धा करने लगते हैं।

ज्ञातासूत्र में विचिकित्सा का भाव दिखाने के लिए मोर के अण्डों का दृष्टान्त दिया है। कहा गया है कि दो आदमी मोरनी के अण्डे लाये एक ने विश्वास रखा कि

यह अण्डा मोरनी का है और मुर्गी इसमें से बच्चे निकाल देगी । ऐसा विश्वास रखने से उसके लाये अण्डे में से बच्चे निकल आये, लेकिन दूसरे आदमी को अण्डो के प्रति अविश्वास रहा । वह यही सन्देह करता रहा कि क्या मालूम इन अण्डों मे बच्चे हैं या नही ? इस प्रकार के अविश्वास के कारण वह अण्डो को बार-बार हिला-हिला कर देखता रहा, जिससे वे अण्डे व्यर्थ गये, उनमें से बच्चे नही निकले। यह दृष्टान्त देकर ज्ञातासूत्र मे समझाया है कि धर्म मे विचिकित्सा रखने से ऐसा ही होता है ।

मनुष्य सासारिक कामो में यदि अस्थिरता से ही काम ले तो वे ठीक नही हो सकते । इस प्रकार जब ससार–व्यवहार मे भी स्थिरता की आवश्यकता है तो क्या धर्म में स्थिरता की आवश्यकता न होगी ? केले के पौधे के प्रति सन्देह करके उसके छिलके उतारने वाले को क्या मिलने वाला है ? उस पर विश्वास रख कर सींचने वाला मीठे फल पाता है । यही बात धर्म के विषय मे भी समझो।

मतलब यह है कि धर्म का तत्क्षण फल चाह कर और तत्क्षण फल न मिलने पर धर्म के प्रति अविश्वास मत लाओ, धैर्य पूर्वक विश्वास रखो । यही बात बतलाने के लिए गीता मे कहा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन

अर्थात्—कार्य करो, कार्य का फल न चाहो ।

दो-चार वर्ष तक जीवित रह सकने वाला, जर्जरित-देह एक बूढा आम के वृक्ष लगा कर सींच रहा था । कुछ

लोग उधर से निकले । ले उस बढे को आम के पेड़ सींचते देख कर कहने लगे कि यह बूढा कितना मूर्ख मालूम होता है। इसे कितने दिन जीना है ? यह कब फल खा सकेगा ? फिर भी कितनी मेहनत कर रहा है ?

उस बूढे ने कहा—मैं आपकी बात मानूं या कर्त्तव्य को ? मैंने दूसरे के लगाये आम के फल खाये तो मेरे लगाये आम के फल मैं ही खाऊ, यह तो तुच्छ बुद्धि है !

अक्सर लोग संसार-व्यवहार में तो उस बूढे की सी बुद्धि रखते हैं, लेकिन धर्म में उस बुद्धि को भूल जाते हैं। वहुतसे लोग वनियापन से ही धर्म करते हैं और सोचते हैं—हमने अमुक धर्म किया है, इसका यह फल मिले और यदि यह फल न मिले तो यह धर्म नही । इसी प्रकार धर्मकार्य के विषय में भी सोचते हैं कि अमुक ऐसा करे तो मैं भी करू, नही तो नही करू । यह सब धर्म के प्रति अस्थिरता का फल है । यह धर्मप्रेमी नहीं है। अगर आपके अन्तःकरण में धर्म के प्रति प्रेम है, आप धर्म को बडा समझते हैं तो धर्म के विषय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा न रखकर धर्म का सेवन करो । तभी धर्म का वास्तविक फल प्राप्त होगा ।

कुछ लोग विचिकित्सा का दूसरा अर्थ करते हैं— विद्वद्‌जुगुप्सा । अर्थात् ज्ञानियों की निन्दा करना, उनके प्रति घृणा का भाव रखना विचिकित्सा कहलाता है । यहां ज्ञानी से अभिप्राय मुनि का है । अतः विचिकित्सा का त्याग करना अर्थात् मुनियो की निन्दा का त्याग करना चाहिये ।

जिन्होने संसार के कारणो को द्रव्य और भाव दोनो

से ही त्याग दिया है, ऐसे साधुओं की भी निन्दा करने से लोग नहीं चूकते । कई कहने लगते हैं—अजी वे साधु तो स्नान नहीं करते । उनका शरीर तो स्वेद और मैल से भरा रहता है और दुर्गंध देता है ! वे कच्चा पानी नही छूते तो गर्म पानी से ही शरीर साफ क्यो नहीं कर लेते ? गर्म पानी से भी शरीर स्वच्छ नहीं करने वाले साधु क्या आलसी हैं ?

दूसरे लोग ऐसी बातें कहें तो कहें, परन्तु कई जैन कहलाने वाले लोग भी ऐसी बातें कहते हैं ! वे देखते हैं—अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतो के पालन में तो हम इनसे जीतते नहीं, इसलिए ऐसी बात बनाना चाहिए, जिससे इन के प्रति घृणा का भाव जागृत हो जाय । इसीलिए वे कहते हैं—'इन साधुओ में और बात तो ठीक है, परन्तु ये मैले रहते हैं !'

ऐसा कहने वाले लोगों से पूछना चाहिये कि आप यह बात आगम के आधार पर कहते हैं या अपनी इच्छा से? आगम मे साधु के लिये क्या यह नही कहा गया है कि—

किं विभूसाए कारियं ?

अर्थात्—साधु को शरीर का संस्कार करने का क्या प्रयोजन है ? स्नान न करना एक प्रकार का कष्ट भोगना ही है । यदि शास्त्र में साधु के लिए स्नान करने का विधान हो तो साधु क्यों व्यर्थ कष्ट को सहन करे और शास्त्राज्ञा का उल्लंघन भी करे ? ऐसा करने मे साधु को क्या लाभ है ? जब साधु शास्त्रोक्त अहिंसा आदि व्रतो का पालन

करता है तो नहाने-धोने में ही उसका क्या बिगडता था ? स्नान के सबंध में शास्त्र का कथन है—

संति मे सुहुमा पाणा घसासु भिलगासु य ।
जे अ भिक्खू सिणायंतो, विअडेणुप्पिलावए ॥

जो साधु स्नान करता है, वह हिंसा से नहीं बच सकता । पृथ्वी की दरारों आदि में रहे हुए जीव अचित्त जल से भी मर जाते या कष्ट पाते हैं ।

स्नान के संबंध में मैंने डॉक्टरो के अभिप्राय पढे हैं । एक लेख में उनके अभिप्राय प्रकट किये गये थे । कई डॉक्टरों का कहना है कि शरीर की चमडी में बाह्य आघात सहन करने का जो गुण है, वह स्नान करने से नष्ट हो जाता है । यानी चमड़ी में कमजोरी आ जाती है, चमडी पतली पड जाती है, जिससे और बीमारियां होने लगती हैं ।

स्नान सोलह शृंगारों में गिना जाता है । जिसने शृंगार करना छोड दिया है, वह स्नान क्यों करे ?

यह जैनदृष्टि का विचार है । कोई वैष्णव भाई कह सकते हैं कि हमारे यहां तो स्नान के बिना मोक्ष ही नही है ! परन्तु ऐसा कहने वाले सन्यासधर्म से अपरिचित हैं । वैष्णवो की कई कथाओं में कहा गया है कि अमुक तपस्वी ने ऐसी तपस्या की कि शरीर के ऊपर दीमक चढ गई ! अगर वे तपस्वी स्नान करते होते तो शरीर पर दीमक कैसे लग जाती ?

इसके सिवा, जब स्नान से ही मोक्ष है तो फिर शरीर

पर राख क्यों लगाई जाती है? जब शरीर पर राख लगाई जाती है तो हमारा स्नान न करना ही क्या बुरा है?

शोणिक पुराण के १८ वें अध्याय के श्लोक ४१-४२ में वैष्णव त्यागी के लिए जो नियम बतलाए गए हैं, उन्हें जैन त्यागी के ४४ अनाचारो से मिलाएंगे तो आपको वस्तु-स्थिति का पता लग जाएगा। वहा परापवाद, चुगली, लोभ जुआ, जनपरिवाद, स्त्री को देखना, छतरी लगाना, दातुन करना या मजन करना, मिस्सी लगाना, गदा भोजन करना, नमकीन भोजन करना, मैल उतारना, शूद्र यानी नीच प्रकृति वाले से भाषण करना और गुरु की अवज्ञा करना आदि आदि मना किया गया है।

यह तो त्यागी की बात हुई। गृहस्थ के लिए भी महाभारत मे कहा है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा,
सत्योदका शीलतटा दयोर्मि.।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

हे युधिष्ठिर ! अन्तरात्मा का मैल पानी से नहीं धुलता। सयम रूपी पानी से परिपूर्णशील रूपी तट वाली और दया की लहरो से लहराने वाली, आत्मा रूपी नदी अर्थात् संयम मे स्नान करने से ही अन्तरात्मा शुद्ध हो सकती है।

४–परपाखण्ड प्रशंसा

सम्यक्त्व का चौथा अतिचार 'परपाखण्डप्रशसा' है। 'पर' शब्द का अर्थ है–दूसरा। किन्तु 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ क्या है, यह देखना है। 'पाखण्ड' का अर्थ दभ सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है। यहाँ इसी अर्थ को लिया जाय तो इस अतिचार का अर्थ होगा—दूसरे के पाखण्ड कर्थात् दभ की प्रशसा करना।

यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या दूसरे का पाखण्ड ही बुरा है ? अपना पाखण्ड या दम्भ बुरा नही ? यदि दभ मात्र बुरा है तो दूसरे के दभ की प्रशसा करने से ही क्यो दोष लगता है ? क्या अपने दभ की प्रशंसा करने से दोष नही लगेगा ? अगर अपने पाखण्ड की प्रशसा करना भी दोष है तो यहां 'पर' शब्द जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। उसका अर्थ दभ भी होता है और व्रत भी होता है। यहां उसका अर्थ व्रत है।

सर्वज्ञ के बताये हुए व्रत के सिवाय अन्य व्रत को परपाखण्ड कहते हैं। कहा जा सकता है कि क्या सर्वज्ञ के व्रत भी पाखण्ड हैं ? इसका उत्तर यह है कि जो पाप का नाश करे वह पाखण्ड है, और व्रत पाप का नाशक है, अतः व्रत का नाम पाखण्ड है।

पापानि खण्डयतीति पाखण्डः

निर्युक्ति में भी कहा है—

पव्वइए अणगारे, पासंडे चरगःतावसे भिक्खू ।
परियाइए य समणे, निग्गंथे संजए मुक्के ।।

यहां मुनियो के जो पर्यायवाची शब्द बतलाये गये हैं, उनमे एक नाम पाखण्डी भी है । और भी कहा है।—

पाषण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि ।
स पाषंडी वदन्त्येके, कर्मपाशाद् विनिर्गतः ।।

यह श्लोक दशवैकालिकसूत्र की टीका का है । इसमे कहा गया है कि पाषण्ड व्रत को कहते हैं । व्रत मैले भी होते है और निर्मल भी होते हैं परन्तु जो निर्मल व्रत धारण करने वाले हैं, उन्हे पाखण्डी भी कहते हैं । मतलब यह है कि पाषण्ड अर्थात् व्रत सर्वज्ञप्रणीत भी हैं और असर्वज्ञप्रणीत भी हैं । जो असर्वज्ञप्रणीत हैं वे परपाखण्ड हैं । जो असर्वज्ञप्रणीत पाखण्ड हैं, उन्हे कोई दूसरा भले मानता हो परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हे नही मानेगा । वह उनकी प्रशंसा नहीं करेगा ।

परपाखण्ड के शास्त्र मे ३६३ भेद बतलाये है । शास्त्र मे उन परपाखण्डो की व्याख्या भी की है । वैसे तो परपाखण्डधारी भी अपने आपको मोक्ष का अधिकारी मानते है परन्तु जो अपने मन से सर्वज्ञ बना है, हम उसे सर्वज्ञ नहीं मानते । और जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके बताये हुए व्रतो को हम पाषण्ड तो मानेगे, परन्तु कहेंगे परपाखण्ड ही ।

प्रश्न हो सकता है जब आप दूसरे के व्रत को पाखण्ड मानते हैं तो फिर दूसरे शास्त्रों के प्रमाण क्यों देते हैं ? इसका उत्तर यह है कि अदालत मे जब मुकदमा होता है तो कैसा भी गवाह क्यों न हो, अगर अपना पक्ष पुष्ट होता है तो उसकी गवाही दिलानी पड़ती है। उस समय उसके दूसरे दोषों का विचार नही किया जाता। कई बार तो वेश्या की भी गवाही दिलानी पड़ती है।

इसी प्रकार हम अपने पक्ष की सत्यता सिद्ध करने के लिए दूसरो के शास्त्रो की साक्षी देते हैं। हमें उनके कर्त्ता के चरित्र से क्या मतलब है। प्रमाण देने से दूसरे के शास्त्र को सही नहीं माना है, केवल अपने पक्ष की पुष्टि की गई है। उदाहरण के लिए एक बात का यहा उल्लेख करता हू। यह बात शायद महाभारत की है।

एक बार द्रौपदी गगा या यमुना मे स्नान करने गई। द्रौपदी स्नान करती थी, इतने ही मे तेजस्वी, ओजस्वी और वीर माने जाने वाले कर्ण, कुण्डल-मुकुट पहने, हाथ मे धनुष लिये हुए उधर से निकले। द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देखकर उनकी वीरता आदि का स्मरण करके द्रौपदी अपने मन मे कहने लगी—क्या करूं ? ससार का नियम अजीब है और उसका पालन करना ही होता है। यदि कर्ण कुन्ती के पेट से जन्मे होते, तो जैसे मैंने पांच पति वरे थे, वैसे ही इन्हे भी वर लेती।

स्नान करके द्रौपदी अपने घर गई। द्रौपदी के इन मनोगत भावो को कृष्ण ने योगबल से जानलिया। कृष्ण ने विचार किया—किसी दूसरी स्त्री की बात तो अलग है,

परन्तु द्रौपदी ऐसी सती इस प्रकार की भावना करे, यह सूर्य, चन्द्र के पृथ्वी पर गिरने जैसी आश्चर्य की बात है। कृष्ण विना बुलाये ही हस्तिनापुर आये। पाण्डव लोग कृष्ण का स्वागत करने लगे, परन्तु कृष्ण ने कहा—मैं स्वागत कराने नही आया हू, किन्तु किसी दूसरे ही कार्य से आया हूं। चलो हम सब वन को चलें, वहा वनभोजन करेंगे। द्रौपदी तुम भी साथ चलो। कृष्ण की बात मान कर द्रौपदी सहित सब पाण्डव कृष्ण के साथ वन को चले। चलते-चलते एक सुन्दर वन आया कृष्ण ने कहा, यह वन है तो सुन्दर परन्तु तुम्हारा नहीं है। इसलिये इसके फलों पर मन मत ललचाना। इस प्रकार सबको सावधान करके कृष्ण आगे चले। आगे एक पके हुए जामुन का पेड मिला। भीम ने पके हुए जामुन देखकर इधर-उधर देखा और यह समझ कर कि कोई नही देखता है, वृक्ष में से एक जामुन का फल तोड़ लिया। भीम को जामुन का फल तोड़ते कृष्ण ने देख लिया। उन्होंने भीम को डाट कर कहा कि मैंने अभी थोडी ही देर हुई, तुम्हे शिक्षा दी है। फिर भी तुमने फल तोड लिया। भीम ने शर्मिन्दा होकर उत्तर दिया कि गल्ती हुई। कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम के पाप का प्रायश्चित्त तुम पाचो भाई करो और द्रौपदी! तुम भी प्रायश्चित्त करो। तुम्हारे पति के मन मे एक जम्बूफल के लिये चोरी की भावना क्यों आई?

युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि हम इसका क्या प्रायश्चित्त करें? कृष्ण ने उत्तर दिया कि इस टूटे हुए फल को पुनः डाली पर लगाओ। युधिष्ठिर ने पूछा-कैसे लगावें? कृष्ण ने उत्तर दिया कि अपने-अपने पापों की आलोचना करके कहो कि इन पापों के सिवा और पाप न किया हो

तो हे फल ! उस शक्ति से तू ऊपर उठकर डाली पर लग जा ! युधिष्ठिर ने कृष्ण की बात सुनकर कहा—यदि मैंने सत्य ही कहा हो और सत्य का आचरण किया हो तो हे फल ! तू ऊपर चढ । युधिष्ठिर के यह कहने पर फल ऊपर उठ कर डाली की ओर चलने लगा । कृष्ण ने कहा कि युधिष्ठिर की परीक्षा हो गई । इसलिए हे फल तू ठहर ! कृष्ण ने फिर भीम को बुलाया । भीम ने कहा—मे तो पापी ही हूं । कृष्ण ने कहा—अच्छा तुम ठहर जाओ । अर्जुन, तुम आओ । अर्जुन ने आकर अपने पाप की आलोचना करके कहा-इसके सिवा पाप न किया हो तो फल, ऊपर चढ, नही तो नीचे गिर । अर्जुन के कहने पर भी फल ऊपर चढने लगा, परन्तु कृष्ण ने फल को रोक लिया । इसी प्रकार नकल और सहदेव ने भी अपने-अपने पापो की आलोचना करके फल को चढने के लिए कहा । उनके कहने पर भी फल चढ़ने लगा परन्तु कृष्ण ने रोक लिया । फिर कृष्ण ने भीम से कहा-अब तुम फल चढाओ । भीम ने कहा—मैंने अभी इसी फल को तोड़ने का पाप किया है । कृष्ण ने उत्तर दिया-यह पाप तो प्रत्यक्ष है, इसके सिवा और पापों की आलोचना करो । भीम ने कहा-मैंने इस पाप के सिवा और पाप न किया हो तो फल, तू ऊपर चढ, नही तो नीचे गिर जा । भीम के कहने पर भी फल ऊपर चढने लगा परन्तु कृष्ण ने रोक लिया ।

पाण्डवो की परीक्षा हो जाने पर, कृष्ण ने द्रौपदी से कहा कि द्रौपदी, अब तुम अपने पापो की आलोचना करके फल को ऊपर चढ़ाओ । द्रौपदी ने कहा कि मैं तो प्रत्यक्ष पापिनी हू, मेरे पाच पति हैं । कृष्ण ने कहा-पाच पति तो

प्रत्यक्ष ही हैं। इन पतियों के सिवा यदि मन, वचन से भी पाप न किया हो, तो फल को चढाओ। द्रौपदी विचार में पड़ गई कि मैंने मन से तो कर्ण को अपना पति बनाने का पाप किया है, परन्तु यह बात कैसे कहू ? इस प्रकार की कमजोरी से द्रौपदी ने अपना वह मानसिक पाप छिपा कर कहा कि यदि मैंने पाँच पति के सिवा मन से भी और पति न किया हो तो हे फल ! तू ऊपर चढ जा, नही तो नीचे गिर जा। द्रौपपी के कहने पर फल ऊपर चढने के बदले और नीचे गिर गया। द्रौपदी बहुत लज्जित हुई। उसे चीर-हरण के समय भो जितना दुःख न हुआ होगा, उतना दुःख उस समय हुआ। कृष्ण ने द्रौपदी से कहा-द्रौपदी यह फल तुम्हारे चारित्र की कैसी साक्षी दे रहा है ! तुम अब भी सत्य कहो। द्रौपदी ने कहा-मैंने दो पाप किये हैं। एक तो स्नान करते समय मैंने कर्ण को पति की तरह चाहने का पाप किया और दूसरा पाप इस समय पहले पाप को छिपाने का किया। इन दोनो पापो के सिवा और पाप नही किया। इस बात की साक्षी, यदि आप कहे तो मैं अग्नि या पानी मे गिर कर भी दे सकती हू। द्रौपदी की बात सुनकर कृष्ण ने कहा कि तुम मेरी भोजाई हो और सुभद्रा के नाते बहन भी हो, घबराओ मत। तुमने पाप की आलोचना करली, इससे तुम्हारा पाप धुल गया। द्रौपदी घबराकर रोने लगी। कृष्ण ने कहा-अब तुम में पाप, पाप नहीं रहा है, इसलिये घबराने की जरूरत नहीं। यदि तुम्हे मेरी इस बात पर विश्वास न हो तो तुम परीक्षा के लिये फल को ऊपर चढने की आज्ञा देकर देख लो। द्रौपदी ने रोते रोते फल को ऊपर चढने की आज्ञा दी द्रौपदी की इस बार की आज्ञा से फल ऊपर चढकर डाली से लग गया। कृष्ण ने द्रौपदी

को धन्य कह कर कहा कि बस, वनभोजन हो गया। चलो, चलें।

मतलब यह कि द्रौपदी ने कर्ण की ज़रा-सी प्रशसा की थी। यदि उसने कर्ण की प्रशंसा धर्म की दृष्टि से की होती तो दूसरी बात थी, परन्तु उसने कर्ण को पति बनाने की इच्छा से प्रशसा की थी। उसका यह कार्य पर-पति-प्रशंसा हुआ और वह पाप माना गया। इसी प्रकार किसी मे सत्य हो और उसकी प्रशसा सत्य की अपेक्षा से की जावे, तब तो बात दूसरी है, परन्तु यह व्रत वीतराग का कहा है तो क्या और दूसरे का कहा है तो क्या अपने को दूसरे के बताये हुए व्रत भी लेना, वे भी अच्छे हैं, इस रूप मे पर-पाखण्ड-प्रशसा करना अतिचार है।

५—परपाखण्डसंस्तव

परपाखण्डप्रशसा नामक चौथे अतिचार की व्याख्या करते हुए 'परपाखण्ड' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। चौथे अतिचार में प्रशंसा को दोष बतलाया गया था और इसमे सस्तव को वर्जित किया गया है। 'सस्तव' शब्द का अर्थ है-'परिचय'। सहवास से जो विशेष परिचय होता है-साथ खाना, साथ पीना आदि, वह सस्तव कहलाता है। सम्यग्दृष्टि को परपाखण्डियों के साथ ऐसा परिचय नही रखना चाहिए।

पर पाखण्डियो के सहवास में रहने से भोले लोग उनकी क्रियाओ को देखकर, सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विचलित हो जाते हैं। देखा-देखी वे वैसी ही क्रियाए करने लगते हैं और धीरे धीरे सम्यक्त्व से गिर जाते हैं। इसी दृष्टि से पर-पाखण्डियो के साथ परिचय करने का निषेध किया गया है।

कहा जा सकता है कि अगर परपाखण्डियों के साथ परिचय को भी आप वर्जित कर रहे हैं, तब तो हमें अलग ही अपना ससार बसाना पड़ेगा ! इस ससार में रह कर तो बचना कठिन है ।

मगर मेरे कहने का आशय यह नही है कि सम्यग्दृष्टि किसी के साथ परिचय ही न करे । यहा उन लोगों के साथ परिचय करने का निषेध किया गया है, जो कपोलकल्पित सिद्धान्त को मानते हैं और समझाने पर भी अपने हठ को नही छोड़ते । बल्कि दूसरे का खडन और अपना मडन करने के लिए ही उद्यत रहते हैं ।

एक पतिव्रता महिला ऐसी पतिव्रता के साथ ही परिचय करेगी जो उसके पतिव्रत धर्म के पालन में सहायक हो सके । वह उसी की सगति करेगी । पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली किसी वेश्या के साथ अपनी घनिष्टता स्थापित नही करेगी, क्योकि वेश्या उसके धर्म की विघातिका हो सकती है, सहायिका नही हो सकती ।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी गुणी जनो की ही सगति करता है और अपने समकित के विघातक परपाखण्डियो की सगति को त्यागता है ।

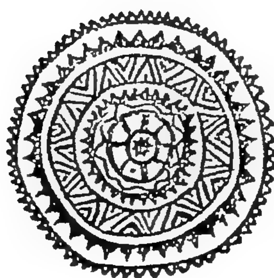
गुलिश्तां मे मैंने एक कहानी पढी थी । एक बार बादशाह अपने स्नानगृह मे गया । वहा पड़ी हुई मिट्टी में से एक प्रकार की सुगंध आई । बादशाह ने अपने नौकरों से पूछा—इस मिट्टी मे ऐसी खुशबू कहां से आई ?

नौकर बोले-हुजूर ! यह मिट्टी बाग की है । इसके

ऊपर फूल थे। उन फूलो की खुशबू इसमें आ गई है।

यह सुनकर बादशाह कहने लगा-वाह रे फूल ! तेरी भी बलिहारी है ? तूने अपनी खुशबू इस मिट्टी में डाली, इस मिट्टी की गध अपने अन्दर नही पड़ने दी।

यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय मे समझनी चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि अपने धर्म की सुगध दूसरों के ऊपर डाल दे, उसको किसी से भी परिचय करने मे हर्ज नहीं है, परन्तु जिन पुरुषो पर दूसरे की छाप पड़ जाती है और जिसके कारण सम्यक्त्व मे डावाडोल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, उनसे परिचय नहीं करना चाहिए।



श्रावक के भेद

मूलत: श्रावक दो प्रकार के है-व्रती और अव्रती। दूसरे प्रकार से श्रावक त्याग की मर्यादा के भेद से आठ प्रकार के हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) दो करण तीन योग से त्यागी।
(२) दो करण दो योग से त्यागी।
(३) दो करण एक योग से त्यागी।
(४) एक करण तीन योग से त्यागी।
(५) एक करण दो योग से त्यागी।
(६) एक करण एक योग से त्यागी।
(७) उत्तर गुणधारी श्रावक, जिसमे भग नही है।
(८) अव्रती श्रावक, जो व्रत धारण नही करता किन्तु समकिती होता है।

श्रावक के ये आठ भेद भी मूल है। शास्त्रकारों ने इन आठ के भी बत्तीस भेद बतलाये हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण, यह पाच अणुव्रत हैं। कोई श्रावक इन पांचो अणुव्रतों का पालन करता है और कोई कम ज्यादा का। पांचो व्रत लेने

वाले भी सब समान रूप नहीं लेते, किन्तु ऊपर बतलाये हुए छः भंगो मे से भिन्न-भिन्न भंगो से लेते हैं। कोई पांचो व्रत पहले भग के अनुसार, कोई दूसरे भग के अनुसार, कोई तीसरे भग के अनुसार, कोई चौथे, पांचवें या छठे भंग के अनुसार। इस प्रकार पूर्वोक्त छह भगो के आधार पर पांच अणुव्रतधारी के छह भेद होते हैं। इसी तरह चार व्रत लेनें वाले के, तीन व्रत लेने वाले के, दो व्रत लेने वाले के और एक व्रत लेने वाले के भी छह-छह विकल्प होते हैं। इन सबका योग किया जाय तो ३० भेद होगे। इकतीसवा भेद उत्तरगुणधारी का और बत्तीसवा भेद अव्रती श्रावक का। इस प्रकार गणना करने से श्रावक के बत्तीस भेद होते हैं।

यहा यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि श्रावक में समकित होना अनिवार्य है। जिसमे सम्यक्त्व होगा, वही श्रावक माना जा सकता है। सम्यक्त्व के अभाव मे श्रावकत्व नही रह सकता। जैसे मनुष्यों मे कोई सम्राट होता है, कोई राजा होता है, कोई मन्त्री होता है, फिर भी उन सब में मनुष्यत्व होना अनिवार्य है, इसी प्रकार कोई श्रावक भले मूल-व्रतधारी हो या उत्तरगुणधारी, भले पांचो मूल गुणों का पालन करे या एक, दो तीन, चार का, किन्तु उन सबमें सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।



अणुव्रतों और महाव्रतों का सम्बन्ध

जैसे जल के अभाव में कमल नहीं होता, उसी प्रकार श्रावक धर्म के अभाव में साधु-धर्म भी नहीं रह सकता। श्रावक धर्म रूपी जल की विद्यमानता में ही साधुधर्म रूपी कमल विद्यमान रह सकता है।

आज कई श्रावक अणुव्रतों को जानते ही नहीं हैं और कई जानते बूझते भी उनकी ओर से उदासीन हैं। इसी से साधुधर्म मे भी गड़बड़ है। उदाहरणार्थ, श्रावकों में आवश्यक विवेक न रहने से साधुओं को भी शुद्ध आहार-पानी मिलने मे कठिनाई हो रही है। जब श्रावक ही मशीन का पिसा हुआ आटा और चर्बी मिला घी खाने लगे तो साधुओं को शुद्ध आहार कहां से मिलेगा? श्रावक अगर रजोगुणी और तमोगुणी भोजन करने लगें तो साधुओ को सतोगुणी भोजन किस प्रकार प्राप्त होगा?

जिसके यहां खानें-पीने की व्यवस्था नहीं है, उसका मन भी शुद्ध रहना कठिन होता है। मगर खेद है कि लोग स्वाद के आगे विवेक को भूल जाते है।

प्रायः लोग सीधी चीज लाने मे पाप से बचना मानते हैं, पर एकान्त रूप से ऐसा समझना भूल है। कई बार

सीधी चीज से अधिक पाप होता है। छोटी सादडी में ब्राह्मणों ने बाजार से मैदा लाकर हलुवा बनाया उन्होंने ज्यों ही मैदा सेक कर उसमें पानी डाला, वैसे ही बहुत-सी घटें पानी के ऊपर तिर आई। ब्यावर के सतीदास जी गोलछा सीधी चीज लाने के बहुत पक्षपाती थे। एक बार वे बाजार से पिसी मिर्च लाये। घर पर उस मिर्च को तार की छन्नी से छाना तो उसमें से बहुत-सी लाल रंग की लटें (इल्लियां) निकली। इस प्रकार कई लोग सीधा खाने से पाप से बच जाने का विचार करके और अधिक पाप में पड जाते हैं।

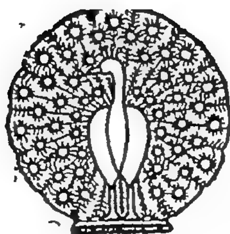
तात्पर्य यह है कि श्रावक-धर्म और साधु-धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रावकों में विवेक होगा तो साधु भी अपने धर्म का भली-भाति पालन कर सकेंगे।

अणुव्रत और महाव्रत का सम्बन्ध कैसा है, यह बात एक उदाहरण देकर समझाता हूं। किसी जगह कुछ लडके खेल खेल रहे थे। उनमें एक लडका वजीर का भी था। बादशाह ने अपनी लकड़ी से एक लकीर खींच दी और सब लड़कों से कहा, इस लकीर को बिना मिटाये छोटी कर दो तो जानें!

लडके सोच विचार मे पड़ गये। बिना मिटाये लकीर छोटी हो तो कैसे हो? परन्तु वजीर के लडके ने बादशाह के हाथ से लकड़ी ली और उस लकीर के पास ही एक बड़ी लकीर खींच दी। बादशाह की खींची लकीर छोटी हो गई। तब उस लड़के ने कहा—लीजिए, आपकी लकीर छोटी हो गई है!

बादशाह ने लडके की पीठ ठोककर कहा-शाबास, बाप का संस्कार बेटे में आता ही है ।

मतलब यह है कि जैसे उन दो लकीरों में छोटापन और बड़ापन सापेक्ष था अर्थात् बड़ी लकीर होने से दूसरी छोटी कहलाई और छोटी होने से दूसरी बडी कहलाई, उसी प्रकार अणव्रत और महाव्रत भी परस्पर सापेक्ष हैं । अणुव्रतो की अपेक्षा महाव्रत, महाव्रत कहलाते हैं और महाव्रतों के कारण अणुव्रत, अणुव्रत कहलाते है । अणुव्रत तभी होंगे जब महाव्रत होगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलायेंगे जब अणव्रत होगे ।



श्रावक की त्यागविधि

जब तक व्यावहारिक जीवन सुधरा हुआ न हो, तब तक ईश्वरीय तत्त्व की उपलब्धि कोरी बात ही बात है। उदाहरण के लिए कागज पर लिखे हुए दस सेर कलाकंद, पांच सेर जलेबी, बीस सेर पूडी और पांच सेर भुजियों से कितने आदमियों का पेट भर सकता है ? कागज पर लिखी हुई इन वस्तुओं को चाटने से क्या किसी एक का भी पेट भर सकता है ?

'नहीं !'

कहोगे कि यह तो सूचना मात्र है। इसके अनुसार चीजो को लाने और खाने से ही भूख मिटेगी। ठीक है, इसी प्रकार यहा भी शास्त्र मे ईश्वरीय तत्त्व की सूचना मात्र है। इस सूचना के अनुसार ईश्वरीय तत्त्व को प्राप्त करने के लिए शास्त्रोक्त आचार की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से श्रावकधर्म रूप बारह व्रत बतलाये हैं।

बारह व्रत गृहस्थधर्म का आचार है। गृहस्थ उसे कहते हैं, जिसके साथ घर, स्त्री, धन आदि लगे हैं और गृहस्थधर्म के उपदेश का अभिप्राय यह है कि गृहस्थ इन्ही सब में फंसा-फंसा अपने जीवन को समाप्त न कर दे। ऐसा

न हो कि वह आत्मकल्याण कर ही न सके । गृहस्थ ससार के बधन मे है और इस बन्धन मे रहते हुए वह अपना कल्याण किस प्रकार कर सकता है, यह बात शास्त्रकारो ने बहुत सरल रीति से समझाई है । यद्यपि गृहस्थ एक देश रूप से ही संयम का पालन कर सकता है, फिर भी उससे भी आत्मा का कल्याण तो होता ही है ।

गृहस्थ श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से अणुव्रतों का पालन करता है । यो तो पहले श्रावको के जो बत्तीस भेद बतलाये है, उनमे और भी विकल्प हैं, परन्तु दो करण तीन योग से पापो का त्याग करने वाला श्रावक उच्च कहलाता है । यद्यपि प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक तीन करण और तीन योग से भी अणुव्रतो का पालन करते हैं, मगर वे विरल होते हैं और उनकी त्यागविधि सभी गृहस्थ श्रावको पर लागू नही हो सकती ।

श्रावक के दो करण, तीन योग में शिष्टाचार रह जाता है अर्थात् जो लोग हिंसा आदि करते हैं, उनके साथ सम्बन्ध रखने का वह त्याग नहीं करता ।

महाशतक श्रावक ने दो करण, तीन योग से हिंसा का त्याग किया था । उसके व्रत स्वीकार करने से पहले ही तेरह स्त्रियां थी । इन तेरह स्त्रियो मे से रेवती नामक स्त्री अत्यन्त क्रूर थी । एक बार रेवती ने सोचा—मेरी सौतें मेरा पति-सुख बटा लेती हैं । ये पति-सुख मे विघ्न रूप हैं, अतएव किसी प्रकार इन्हे अपने रास्ते से हटा देना चाहिए । जब तक इनकी मृत्यु नही हो जाती, तब तक मैं पूरी तरह पति-सुख नही भोग सकती ।

महाशतक पति है, लेकिन उच्च श्रावक है और रेवती उसकी पत्नी है जो अपनी सौतो के प्राण लेने को तैयार है। अन्ततः उसने अपने विचार को कार्य रूप में परिणत कर दिया। उसने अपनी छह सौतों को विषप्रयोग से मार डाला और छह को शस्त्रप्रयोग से। वह उनके जेवर धन और गोकुल आदि की मालकिन बन बैठी।

रेवती जैसी स्त्री मिल जाने पर श्रावकधर्म-धारक पुरुष क्या कर सकता है, इस पर दृष्टिपात कीजिए। आज के लोग होते तो उस स्त्री को या तो मार डालते या घर से बाहर निकाल देते या जाति से बाहर कर देते। मगर उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महाशतक ने न उसे मारा और न घर से बाहर ही निकाला। महाशतक को अपनी स्त्रियो की मृत्यु का कारण ज्ञात न हुआ हो, यह बात असभव सी मालूम होती है। यह कैसे सभव है कि जिसकी बारह स्त्रियां विष और शस्त्र से मारी जाए, उसे कारण का पता न लगे।

महाशतक ने दो करण, तीन योग से हिंसा का त्याग किया था, अनुमोदना से त्याग नही किया था। वह जानता था कि इस ससार से निकल कर सर्वविरत साधु हो जाना बहुत अच्छा है, किन्तु जब तक संसार से निकल न जाऊं तब तक श्रावक धर्म का पालन करना ही अच्छा है। गाड़ी को फेंक देना दूसरी बात है और उसे खीच कर पार लगा देना दूसरी बात है।

आज के लोग हिंसा को तो बुरा समझते हैं परन्तु व्यभिचार को उतना बुरा नही मानते। हत्या करने वाले

की तो लोग निन्दा करते है परन्तु खुल्लमखुल्ला व्यभिचार करने वाले को वैसी निन्दा नही करते। लेकिन उस समय में व्यभिचार को हिंसा से बुरा माना जाता था, रेवती पूर्णरूपेण पति-सुख चाहती थी, पर व्यभिचारिणी नहीं थी। अतएव महाशतक ने सोचा होगा कि मैंने दो करण, तीन योग से हिंसा का त्याग किया है। अतः इससे सबध त्याग कर इसे घर से निकाल देने की अपेक्षा मुझे ही ससार त्याग देना योग्य है। पर मुझ मे अभी ससार त्याग देने की शक्ति नही है। जब मैं ससार नहीं त्याग सकता तो रेवती को त्यागना भी ठीक नही है। यह अभी तो हिंसिका है, घर से निकाल देने पर व्यभिचारिणी भी हो जाएगी और तब दोनो कुलो को लजाएगी। इसमे मुझ को ही चाहने का जो गुण है, उसी गुण को महत्त्व देकर घर में रखना ही उचित है। बाहर निकाल कर इसका और अपना फजीता करने से कुछ लाभ न होगा।

मेरे खयाल से इसी प्रकार का विचार करके महा-शतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा।

महाशतक ससार से घबरा गया। वह दीक्षा तो न ले सका, किन्तु प्रतिमाधारी श्रावक बन गया। रेवती ने पुनः सोचा—महाशतक ससार-व्यवहार से अलग हो गया, अतः पति-सुख तो मुझे फिर भी न मिलता। किसी प्रकार पति को उसके व्रत-नियम से विचलित करू और फिर गृहस्थी मे लाकर ससार-सुख भोगू।

अगर रेवती पर-पुरुष को चाहने वाली होती तो अपने पति को डिगाने क्यो जाती? बल्कि वह तो यही

सोचती कि—अच्छा है, कंटक दूर हुआ। परन्तु रेवती अपने पति को डिगाने गई, इससे स्पष्ट है कि वह महाशतक पर ही अनुरक्त थी।

रेवती विकराल रूप धारण करके वहा गई, जहां महाशतक ज्ञान–ध्यान में लीन था। महाशतक को उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो चुका था। रेवती ने महाशतक से कहा, तुम्हे सभी प्रकार की भोग-सामग्री प्राप्त है, फिर भी तुम खानपान और भोगविलास छोड़ कर यहा जिंदगी नष्ट कर रहे हो !

यद्यपि रेवती का उपालभ विवेकहीन था, फिर भी महाशतक मौन रहा। रेवती ने तीन बार यही कहा, फिर भी वह क्षमा का सागर ही बना रहा। परन्तु रेवती भी न मानी। तब वह सोचने लगा—यह कुछ और सोचती है, मैं कुछ और सोचता हू। महाशतक ने उपयोग लगाया तो उसे मालूम हुआ कि रेवती मर कर रत्न-प्रभा नरक मे, चौरासी हजार वर्ष के लिए जाएगी। तब उसने रेवती से कहा– तू मर कर चौरासी हजार वर्ष तक नरकवास करेगी।

महाशतक के मुख से यह बात सुनकर रेवती समझी कि मेरे पति क्रुद्ध हो गये। वह कापती हुई वहां से हट गई।

भगवान् महावीर ने इस घटना को ज्ञान से जान कर कहा—गौतम ! ससार मे अधेरा हुआ !

गौतम ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—महाशतक श्रावक ने संथारा-सलेखना लेकर किसी भी जीव को किंचित् भी कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की थी, अठारहों पाप त्याग कर प्राणी मात्र को मित्र मान लिया था, फिर भी उसने रेवती को नरकवास से डरा दिया। उसने अवधिज्ञान का जो उपयोग किया है, वह श्रावक को नही कल्पता।

भगवान् ने रेवती और महाशतक का पूरा किस्सा गौतम स्वामी को सुना कर कहा—गौतम! तुम जाओ और महाशतक को समझा कर कहो कि श्रावक को ऐसा करना नही कल्पता, अतः अपने इस कृत्य के लिए आलोचना करो, निन्दा करो, घृणा करो। तब तुम्हारी आत्मा शुद्ध होगी।

जो गौतम स्वामी, बुलाने पर भी नरेन्द्र के घर भी नहीं जाते थे, वे भगवान् की बात सुनकर, महाशतक श्रावक को पाप से छुड़ाने के लिये उसके पास गये। महाशतक ने गौतम स्वामी की वन्दना-नमस्कार करके कहा—भगवन्! आज आप बिना बुलाये ही पधार गये, यह बड़ी कृपा की।

गौतम स्वामी बोले—तूने अपराध किया है, इस कारण में आया हू। तू ने रेवती को मरणभय उत्पन्न किया है। ऐसा करना प्रतिमाधारी श्रावक की मर्यादा के विरुद्ध है।

गौतम स्वामी की बात मानकर महाशतक ने आलोचना-निन्दा करके आत्मशुद्धि की।

मतलब यह है कि संसार के ऐसे कारणों से ही

गृहस्थ श्रावक दो करण, तीन योग से व्रत स्वीकार करता है । संसार में रहते अनुमोदन का पाप लग ही जाता है । इस अनुमोदनाजनित पाप का भागी होने से वह तीन करण और तीन योग से व्रतों को स्वीकार नहीं करता ।

दो करण, तीन योग से भी व्रत स्वीकार करने के विषय में यह शंका होती है कि अणुव्रतों को दो करण तीन योग से भी गृहस्थ किस प्रकार निभा सकता है ? परन्तु विचार करने से विदित होता है कि दो करण, तीन योग से व्रत अंगीकार करके भी श्रावक सुखपूर्वक अपना जीवन यापन कर सकता है । समझने-समझाने की अपूर्णता के कारण ही यह कहा जाता है कि जैनधर्म किसी विधवा या त्यागी से भल निभ सके, गहस्थो से नही निभ सकता । वह तो चारों ओर से, जीवन को नियमो से बांध लेता है । लेकिन ऐसा समझना भ्रम मात्र है । शास्त्र कहते हैं कि किसी वस्तु पर से आसक्ति हटाने के लिए त्याग किया जाता है और उस त्यागी हुई वस्तु पर फिर आसक्ति न हो, इस उद्देश्य से, किवाड बंद करने के समान, व्रत लिये जाते हैं ।

आप कोई कीमती रत्न कमाकर लावें और उससे घर मे रखें । घर में चोर आदि का भय हो क्या घर के किवाड नहीं लगाते ? 'लगाते हैं ।'

इसी प्रकार आत्मधर्म को पालने के लिये, जीवन मे अव्रत और गफलत रूपी चोर न घुसे, इस अभिप्राय से व्रत लेकर सीमा बांध ली जाती है या व्रत रूपी किवाड़ लगा

लिये जाते हैं।

कहा जा सकता है कि व्रतों में बंध जाना, कैद हो जाना, क्या उचित है ? इसके उत्तर में कहना चाहिए कि शास्त्रकारों ने गृहस्थ धर्म और साधु धर्म ऐसे दो धर्म बतलाये हैं। जिसकी भावना आत्मजागृति और भव-भ्रमण से छूटने की हो उसे तो ससार को सर्वथा त्याग देना चाहिये। आत्मकल्याण, ईश्वरोपासना और परमार्थ के लिए जो संसार को सर्वथा त्याग देता है, वह साधु या सन्यासी कहलाता है। अगर आप इस साधुधर्म को स्वीकार नहीं कर सकते तो महात्मा लोग अपको जबर्दस्ती साधु बनाते ही नही हैं क्योकि स्वतन्त्रता से किए गये जिस काम से सुख होता है, परतत्रता से करने पर उसी काम से दु.ख होता है। स्वतत्रता से सेवन करने वाले को सेवा करने से रोको तो भी वह नही रुकेगा और परतन्त्रतापूर्वक सेवा करने के लिए सेवक को मारो तो भी वह सेवा नहीं करेगा और यदि करेगा भी तो दु खी होकर। उदाहरणार्थ—एक बाई के बच्चे ने पाखाना कर दिया। अगर किसी दूसरी बाई से उसे साफ करने को कहा जाय तो उसे दु.ख होगा। मगर उस बच्चे की माता बिना कहे ही सफाई कर देगी।

तात्पर्य यह है कि व्रतो को अगीकार करना अथवा न करना, मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। कोई जबर्दस्ती करके किसी को व्रत नही देता। ऐसी स्थिति मे व्रत अगर बन्धन है तो वह स्वेच्छा से स्वीकृत बन्धन है। अपने जीवन के श्रेयस् के लिये, आत्मा के उत्थान के लिए और अपने भविष्य को मंगलमय बनाने के लिये मनुष्य स्वेच्छा

से कुछ बन्धन स्वीकार करता ही है। ऐसा किये बिना न समाज की व्यवस्था स्थिर रह सकती है और न जीवन का विकास ही हो सकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब हिंसा बुरी है तो श्रावक हिंसा की अनुमोदना का भी त्याग क्यों नहीं करता ? वह हिंसा करने वाले से परिचय रखना क्यों नही त्यागता ?

इसका उत्तर यह है कि श्रावक ने अभी अपने मे की हिंसा त्यागी है, अभी संसार नही त्यागा है, वह पुत्र-पौत्र आदि के साथ जुडा है, उसके ममत्वभाव का छोडना नही हुआ है, अतएव वह हिंसा करने वाले से परिचय रखना नहीं त्याग सकता क्योंकि सभव है, उसके आत्मीय जनो में से ही कोई हिंसा करे और वह उसको छोड न सके। इस सम्बन्ध में महाशतक श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है।

धर्म का कथन सभी प्रकार के लोगो के लिये है। इस धर्म को बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी धारण कर सकते है और बारह आने की पूंजी से व्यापार करने वाला पूनिया जैसा गरीब श्रावक भी धारण कर सकता है। इस धर्म के आचरण के नियम सभी श्रेणियो के लोगो को ध्यान मे रख कर बनाए गए हैं। आत्मिक धर्म के लिये सभी को समान स्वतन्त्रता है। यही कारण है कि धर्माचरण की विधि में व्यापक विचार से काम लिया गया है।

गृहस्थ श्रावक के पुत्र-पौत्र आदि उसकी नेश्राय में

रहते हैं, इसलिये उनके द्वारा की हुई हिंसा से ससर्गदोष ही नहीं लगता, किन्तु कभी–कभी उसके लिए प्रेरणा भी करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—दो करण, तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा–'उठो, भोजन करलो।' इस प्रकार कह कर उसने भोजन करने की प्रेरणा की, किन्तु खाने वाला यदि राज्याधिकारी हो और अभक्ष्य पदार्थ खावे तो क्या होगा ? अगर उसके साथ सर्वथा सबध त्याग दिया जाय तो क्लेश की वृद्धि होने की संभावना है। यदि वह कम पापी है तो सम्बन्ध तोड़ देने पर उसका अधिक पापी होना भी सभव है। सबध रख कर उसे सन्मार्ग पर लाया जा सकता है।

मतलब यह है कि गृहस्थ होने के कारण श्रावको का इस प्रकार सबध बना रहता है। किसी अच्छे काम के लिये मनुष्यो से गति-अवरोध न हो, इसीलिये तीसरा करण खुला रखा गया है। इससे पापी को भी काम में लगाने में कोई अड़चन नही हो सकती।

यहा एक आशका हो सकती है। वह यह कि श्रावक के त्याग करने के ४६ भग है। उनमें एक भंग तीन करण, तीन योग से भी त्याग करने का है। ऐसी दशा मे आपने दो करण, तीन योग से त्याग करने वाले को उच्च श्रावक क्यो माना ? क्या ऐसा मानना सूत्रविरुद्ध नही है ?

इसका समाधान यह है कि तीन करण, तीन योग से वही श्रावक व्रत स्वीकार कर सकता है, जो ससार त्याग कर प्रतिमाधारी बने। जो ससार मे बंधा हुआ है, वह तीन करण तीन योग से व्रत को नही निभा सकता। हा,

वह किसी खास प्रकार का त्याग तीन करण, तीन योग से कर सकता है । उदाहरण के लिए, स्वयंभूरमण समुद्र के मच्छ मारने का तीन करण, तीन योग से त्याग करे तो उसे निभा सकता है क्योंकि वहा तक कोई मनुष्य पहुच ही नहीं सकता ।

इसी प्रकार गृहस्थ श्रावक किसी भी जाति में रह कर स्थूल हिंसा का दो करण, तीन योग से त्याग कर सकता है और श्रावकपन पाल सकता है ।

गृहस्थाश्रम मे रहने वाला जाति को छोड़ नहीं सकता और न जाति के लोगो के लिए वह इस बात का ठेका ही ले सकता है कि जाति के लोग न स्थूल हिंसा करेंगे और न करायेंगे । और जो हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ संबंध रखने से अनुमोदन का पाप लगता ही है । इस बात को लक्ष्य मे रख कर गृहस्थ को दो करण, तीन योग से त्याग करना बतलाया है । इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के संसार-व्यवहार मे बाधा नहीं आ सकती ।

यहा तक अनुमोदन करण को खुला रखने के कारणों पर विचार किया गया है । अब तीन योगो के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए ।

शास्त्रकार कहते हैं कि प्रत्येक करण के साथ मन, वचन और काय रूप योग का सम्बन्ध है । अर्थात्—

(१) हिंसा करूंगा नहीं, मन, वचन काय से ।
(२) हिंसा कराऊंगा नहीं, मन, वचन, काय से ।
(३) हिंसा का अनुमोदन करूंगा नहीं, मन, वचन, काय से ।

जिसने अनुमोदन करना नहीं त्यागा है, उसके लिये अनुमोदन सम्बन्धी मन, वचन और काय भी खुले रहते हैं।

उदाहरणार्थ—किसी ने स्वयं अपने लिये सौदा किया, किसी ने अपने लिये मुनीम से सौदा कराया और किसी ने सौदा करनें वाले को सम्मति दी। यहां आप स्वयं किये हुए और मुनीम से कराये हुए सौदे के हानि-लाभ को तो भोगेंगे, किन्तु जिसे सलाह दी है, उसके हानि-लाभ को नही भोगेंगे। उसे सलाह देने के कारण आपको अनुमति का दोष अवश्य लगा है, पर आपके दो करण, तीन योग से स्वीकार किये व्रत में उससे कोई बाधा नही आई।

यहा इस बात को ध्यान मे रखना चाहिये कि श्रावक विवेकवान् होता है और समस्त पापो से पूरी तरह बचने की भावना भी रखता है। अतएव जहा तक सम्भव होगा, वह पापों से बचने का ही प्रयत्न करेगा। वह वृथा उस परिस्थिति मे शक्यत्याग पाप का आचरण नही करेगा। आशय यह है कि धर्म के विशालतर प्रागण मे सभी के लिए स्थान है और जो जितना धर्म का आचरण करेगा और पाप से बचेगा, वह उतना ही अपना कल्याण करेगा।



श्रावक और विवेक



शास्त्र, नीति और ससार--व्यवहार आदि सब में विवेक ही को बड़ा माना है। विवेक के बिना कोई काम अच्छा नही होता। ऐसी दशा मे धर्म मे विवेक न रखने पर धर्म की बात कैसे ठीक हो सकती है? अविवेक के कारण धर्म की बात भी अधर्म का रूप ले लेती है और विवेक से अधर्म की बात या अधर्म का समझा जाने वाला काम भी धर्म रूप मे परिणत हो सकता है। सुबुद्धि प्रधान ने विवेक से गन्दे पानी को भी अच्छा बना लिया और राजा को प्रतिबोध देकर धर्मात्मा बना दिया। इसी तरह अविवेक से अच्छी वस्तु भी बुरी बना दी दाती है। जैसे प्रत्येक सासारिक काम में विवेक की आवश्यकता है, ऐसे ही धर्म में भी विवेक ही प्रधान है।

अल्पपाप और महापाप के विषय में कई लोग मुझसे कहते है तथा पत्रों में भी इसकी चर्चा चलती है। इससे कई गृहस्थों ने मुझसे कहा कि आपकी मान्यता क्या है? इसलिये आज मैं अपनी मान्यता प्रकट करता हूं।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि हलवाई के यहाँ से सीधी चीजें लाकर खाने में कम पाप है या घर मे बना कर खाने में कम पाप है ? इसी तरह कपडे और मकान के लिये भी प्रश्न करते हैं और होते-होते यहां तक प्रश्न करने लगते हैं कि हाथ से चमडा चीर कर जूता बना कर पहनना ठीक है या सीधा खरीद कर पहनना ठीक है ? जूते का प्रश्न तो शायद इस लिए किया जाता होगा कि जिससे इस तरह की बात सुनकर लोगो के विचार मेरे विरुद्ध हो जावें।

कई लोग तो मेरे विवेक विषयक कथन को यह रूप देते हैं कि महाराज तो हाथ से रोटी बना कर खाने को कहते हैं। ऐसा असत् रूप बना कर सावद्य उपदेश देने वाला बताते हैं। लोग पाप से बचना चाहते हैं और अपने समाज के लोग सावद्य उपदेश देने वाले को साधु नही मानते। अतः मेरे विषय मे यह कहा जाता है कि महा-राज तो सावद्य उदेपश देते हैं। इस तरह के कथन का उद्देश्य तो यही हो सकता है कि लोगो का चित्त मेरी ओर से उतर जावे। लेकिन पूर्वजों का न मालूम क्या पुण्य है कि उन लोगो के इस तरह आक्षेप करने पर भी लोगो का चित्त मेरी ओर से नहीं हटता। फिर भी मैं आपसे यह कहता हूं कि किसी विषय की शका अपने चित्त में रहने देना ठीक नही है। शास्त्र में शका काक्षा विचिकित्सा आदि समकित के पाच अतिचार कहे हैं। अतिचार तो और व्रतों के भी हैं किन्तु व्रतो के अतिचार से समकित के अतिचार बड़े हैं। इसी से वहां 'पयाला' शब्द शास्त्रकार ने जोड़ा है।

किसी बात की शका होने पर भी सकोच के कारण

था किसी अन्य कारण से उस शंका को न मिटाने से शंका बनी ही रह जाती है और हृदय में शका रहने पर गीता में भी कहा है कि—'संशयात्मा विनश्यति"। इस तरह शका रह जाने से हानि होती है। सशय से हानि होने की बात मैं ही नहीं कहता हू किन्तु सभी कहते हैं। श्रद्धा को सबने महत्त्व दिया है और कहा है कि "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" अर्थात् पुरुप श्रद्धामय है। जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है। इस तरह श्रद्धा को सबने महत्त्व दिया है। शका से श्रद्धा मे दोष आता है और जब श्रद्धा में ही दोष आ जायगा तब बचेगा ही क्या? इसलिये शका को मिटाने में सकोच करने की जरूरत नहीं है, शंका तो मिटानी ही चाहिये।

अब जो अल्पारम्भ महारम्भ का प्रश्न है, वह उन्हीं के लिए हो सकता है, जो सम्यग्दृष्टि और व्रती हैं। मिथ्यात्वी के लिए तो हो ही नही सकता क्योकि जहां बडा कर्ज लदा हुआ है, वहां छोटे लेन देन की गिनती ही क्या? जैसे १–२–३–४–५ मे बडी संख्या दस हजार की है। जिस पर दस हजार रूप मिथ्यात्व का कर्ज लदा हुआ है, वहा पाच पैंतालीस के लेन-देन की बात ही क्या की जा सकती है?

जहां मिथ्यात्व का ही पाप सिर पर घूम रहा है, वहा दूसरी वात करने की जरूरत ही नही रह जाती। परन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं उनको तो इस बात का विचार रखना ही चाहिए कि अल्पपाप और महापाप कैसे और कहां होता है? मैं निश्चय से तो नही कह सकता कि यह काम

अल्पपाप का है और यह महापाप का है परन्तु मैं अल्प और महापाप के साथ विवेक को जोडता हूं और यह कहता हूं कि जहां विवेक है, वहां तो अल्पपाप है और जहां विवेक नही है वहां महापाप है । मैंने एकान्त पक्ष से कभी ऐसा नहीं कहा है किन्तु यही कहा है कि अल्पपाप और महापाप विवेक-अविवेक पर अवलम्बित है ।

जो काम महारम्भ से होता है, वही काम विवेक होने पर अल्पारम्भ से भी हो सकता है और जो काम अल्पारम्भ से हो सकता है वही अविवेक के कारण महारम्भ का बन जाता है । इस पर मैं अपने ही अनुभव का उदा-हरण देता हूं । जब मेरी आयु करीब दस बारह वर्ष की होगी, उस समय की बात है कि जिस ग्राम मे मैं उत्पन्न हुआ था वह मक्की-प्रधान प्रदेश है । वहां मक्की पक जाय तब तो आनन्द मनाते हैं और मक्की न पकने पर वर्ष खराब समझते हैं । उस ग्राम के बड़े-बडे लोगो ने मिलकर गोठ करने का निश्चय किया । जिस देश मे जो चीज पैदा होती है वहां उसी चीज के खाने का रिवाज होता है, अतः उन लोगों ने मक्की के भुजिये आदि बनाने का विचार किया ।

मक्की के भुजिये बनाने के साथ ही भंग के भुजिये भी बनाने का विचार हुआ । मेरे मामाजी ने मुझसे कहा कि बाड में भग के पौधे खड़े है, उनमे से भग की पत्तिया तोड लाओ । उस समय भग के विषय मे आज की तरह का कायदा न था । इसलिए जगह-जगह उसके पौधे होते थे । मेरे संसार के मामाजी वहां प्रतिष्ठित माने जाते थे ।

राज्य में भी उनका सम्मान था। धर्म का भी विचार रखते थे। संभवत: चोविहार भी करते थे और प्रतिक्रमण भी प्राय: नित्य किया करते थे।

उनके कहने पर मैं दौड गया और खोला (गोद) भर कर जो करीब सेर भर होगी, भग लाया। मैं कह चुका हूं कि वे धर्म का भी विचार रखते थे, इसलिये अधिक पाप के भय से डरना स्वाभाविक था। वे मुझसे कहने लगे कि इतनी भग क्यों तोड लाया ? थोड़ी-सी भंग की जरूरत थी ? इस तरह थोड़ी-सी भंग की जगह बहुत भग लाने के कारण उलाहना देने लगे। लेकिन वास्तव में मेरा ही कसूर था या उनका भी ? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी ? मैं बच्चा था, इससे मुझ में विवेक नहीं था और न उन्होने कहा था कि कितनी लाना। इस तरह उन्होंने विवेक दिया, न बच्चा होने के कारण मुझ में विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यों होता ?

इसलिये पत्ता तोडने का कार्य करने के बजाय कराने में अधिक पाप हुआ, क्योकि अपने हाथ से लाते तो जितनी आवश्यकता थी उतनी ही लाते, अधिक नहीं।

विवेक न होने के कारण अल्प पाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। सेठ वरदभाणजी कहते थे कि मैं जगल गया। वहा नौकर से पानी भर लाने के लिये कहा। वह वनस्पति लीलोतरी फूलण

मांज कर उसी में धोकर जैसा-तैसा छाना-बेछाना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ ? इसका कारण क्या है ? क्या यह पाप करने वाले को ही हुआ, कराने वाले को नहीं ? यदि सेठ स्वय पानी भरने जाते और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे ? लेकिन इन्होने नौकर को भेजा और उसने विवेक नही रखा। वह सेठ का ही भेजा हुआ गया था। इसीलिये क्या सेठ को उसका पाप नही लगा ?

मतलब यह है कि इस तरह करने की अपेक्षा दूसरे से कराने मे ज्यादा पाप हो गया या नही ? फिर भी किसी के मन मे कोई सन्देह की बात हो तो वह मुझ से शान्ति से पूछ सकता है। मुझसे पूछने के विषय मे किसी तरह की कोई रुकावट नही है।

इस धर्म के प्रवर्त्तक क्षत्रिय थे और यह धम प्रायः क्षत्रियो के पालने योग्य है। इस धर्म को राज्य करने वाले भी पाल सकते है। उदायन राजा सोलह देशो का राज्य करते थे, फिर भी वे अल्पारम्भी थे या महारम्भी ? इतना राज्य करते हुए भी वे अल्पारम्भी रहे, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि वे श्रावक होने के कारण विवेक से काम लेते थे। इसीसे भगवान् ने विवेक मे धर्म बताया है। यदि विवेक में धर्म न होता तो यह धर्म क्षत्रियो के पालने योग्य कदापि न रहता किन्तु बनियों का ही रहता लेकिन आज इस धर्म का ऐसा रूप बना दिया जाता है कि जिससे यह धर्म केवल बनियो के ही काम का मालूम होता है। विवेक रखते हुए राज्य करने पर भी राजा इस धर्म

का भलिभांति पालन कर सकता है और महारम्भी भी नहीं कहला सकता। इस तरह कभी करने में ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने मे ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है लेकिन विवेक न रखने से करने और करान में भी उतना पाप नही होता जितना अनुमोदन से हो जाता है।

मान लीजिये एक राजा जैन है। उसके सामने एक ऐसा अपराधी आया कि जिसको फांसी की सजा हो सकती थी। वह राजा सोचने लगा कि मैं तो चाहता हूं कि यह बच जाये तो अच्छा किन्तु इसके अपराध की भयकरता को देखते हुए यदि इसको फासी की सजा न दूगा तो न्याय का उल्लंघन होगा। इस तरह उसने न्याय की रक्षा के खातिर बडे सकोच के साथ उसको फांसी की सजा दी। उसने फासी लगाने वालों को हुक्म दिया कि इसको फासी लगा दो। फांसी लगाने वाला उस अपराधी को फांसी लगाने ले चला, वह भी अपने मन में सोचता था कि यह फासी लगाने का काम बुरा है। मैं नहीं चाहता कि किसी को फासी लगाऊ लेकिन राजा की नौकरी मे नाम लिखाया है इसलिये अब काम करने के समय इन्कार करना ठीक नहीं। राजा भी न्याय से बधा हुआ है। इसी से उसने यह हुक्म दिया है अन्यथा वह भी ऐसा हुक्म न देना चाहता होगा। इसी तरह मैं भी बंधा हुआ हूं, इसी से यह फांसी लगाने का काम करता हू।

इस तरह विचारता हुआ वह उस अपराधी को फांसी लगाने के लिये ले गया और फासी दी। वहां एक तीसरा

आदमी खड़ा था। राजा ने तो पश्चात्ताप करते हुए फासी का हुक्म दिया था और लगाने वाले ने भी मजबूरन फांसी लगाई थी लेकिन उस तीसरे आदमी का कोई हुक्म नहीं चलता, फिर भी खडा खडा अति उमगवश हुक्म देता है कि क्या देखता है ? इसको फांसी लगा दे ! इसको तो फासी देना ही ठीक है। लटका दे, देर मत कर।

अब इन तीनो में ज्यादा पाप किसको हुआ ? राजा और फासी लगाने वाला फासी देकर भी फासी के काम की सराहना नही करते हैं लकिन वह आदमी मुफ्त में ही फासी लगाने के काम की सराहना करके अनावश्यक आज्ञा देकर महापाप कर रहा है।

फासी लगाने की जगह पर और लोग भी देख रहे थे। उनमें से जो विवेकी थे वे तो सोचते थे कि यह बेचारा पाप के कारण ही फासी पर चढ रहा है। यदि इसने यह भयकर पाप न किया होता तो इसको फासी क्यो लगती ? अपने को भी ऐसे पाप से बचना चाहिए। लेकिन जो अविवेकी थे, वे कहते थे कि अच्छा हुआ जो इसको फासी लगी। यह बडा ही दुष्ट था परन्तु चतुर नही था। हम कैसे चतुर हैं कि अपराध भी कर लेते हैं और राजा को खबर भी नहीं होने देते। हमारा कार्य किसी पर प्रकट ही नहीं होने पाता। हम वकील तो क्या बडे-बडे बैरिस्टरो और राजा को भी घोल कर पी जाते हैं। लोग धर्म की बात कहते हैं लेकिन हम ऐसे हैं कि धर्म को न मानने पर भी आराम में हैं।

इन दोनों तरह के विचार वाले दर्शको में से महापापी

कौन और अल्पपापी कौन हुआ ? इन दोनों तरह के विचार वाले दर्शकों में से अविवेकी दर्शकों ने महापाप बांधा या नही ? मैं यह नही कहता कि करावे से ही महापाप होता है करने से नही, या करने से ही महापाप होता है, कराने से नही । मैं तो यह कहता हू कि जहा अविवेक है, वहा महापाप है और जहां विवेक है वहा अल्पपाप है । यह बात मैं और उदाहरण देकर भी बताता हूं ।

एक डॉक्टर चीरफाड़ का काम जानता है लेकिन वह कहता है कि मुझ घृणा आती है, इस कारण मैं तो ऑपरेशन नही करता । और ऐसा कह कर वह कम्पाउन्डर से ऑपरेशन करने के लिये कहता है । कम्पाउन्डर अनाड़ी है, होशियार नही है । ऐसा हालत मे वह डॉक्टर स्वय अपने हाथ से ऑपरेशन न करके कम्पाउन्डर से कराये तो उस डॉक्टर को कराने मे ही महापाप लगेगा । एक दूसरा डॉक्टर जो स्वयं ऑपरेशन करना नही जानता या कम जानता है, वह जानने वालो से कहे कि तुम ऑपरेशन करदो तो उसको कराने में भी अल्पपाप ही लगेगा ऑपरेशन तो उसने भी कराया और उसने भी । स्वय तो दोनों ने नही किया, परन्तु पहले डॉक्टर को तो महापाप लगेगा और दूसर को अल्प लगेगा । इसो तरह कोई तीसरा आदमी स्वय आपरेशन करना जानता नहीं है लेकिन जो जानता है, उसे रोक कर स्वय ऑपरेशन कर तो उसको महापाप होगा । ऐसे आदमी के किया हुआ ऑपरेशन कदाचित् सुधर भी जावे तब भी सरकार उसका अपराध ही मानेगी कि उसने न जानते हुए भी ऑपरेशन किया । उस पहले डॉक्टर के कराने पर भी महापाप लगा, दूसरे के कराने पर भी अल्पपाप लगा और तीसरे को स्वय

करने पर भी महापाप लगा। इसका कारण यही है कि इन तीनों में विवेक का अन्तर है। इस तरह सरकार भी उस डॉक्टर को अपराधी मानती है जिसने न जानते हुए भी ऑपरेशन किया है, यद्यपि उसका ऑपरेशन सुधर गया है, तथापि विवेक उसमें नहीं है। इस तरह धर्म मे भी विवेक को देखने की परमावश्यकता है। और देखिये—

एक बाई विवेक-रहित है और एक विवेकवती है। विवेक वाली बाई विचार कर कि रोटी बनावे में पाप लगता है, परन्तु रोटी खाने और कुटुम्बियो को खिलाने की जवाबदारी से मुक्त नही है। वह उस विवेकरहित बाई को रोटी बनाने के काम में लगाती है। वह अविवेकी होने के कारण आग तत्व और उसकी शक्ति को नही जानती थी, इस कारण असावधानी से उसके कपड़े मे आग लग गई। वह मर गई। उसके मरने से वह विवेक वाली बाई प्रसन्न होगी या अप्रसन्न ? वह सोचेगी कि मैंने इसको कहा रोटी बनाने को बैठा दी ? यदि मैं ही विवेक से करती तो यह अनर्थ नही होता। अब कहिये उसको कराने में अधिक पाप हुआ या वह स्वय विवेकपूर्वक करती तो ज्यादा पाप होता ? इसी तरह एक बाई स्वय तो विवेक रखती नही परन्तु उस विवेक वालो को न करने दे और आप खुद करने बैठे तो करने मे अधिक पाप हुआ या नही ?

इस तरह जहा विवेक है वहा तो करने में भी अल्प पाप है और कराने में भी अल्प पाप है पर जहा विवेक नहीं है वहा करने में भी महापाप है और कराने में भी महापाप होता है। इस प्रकार विवेक से महापाप के काम

जिन हीज नयणे रे निरखे सुन्दरी तिन हीज बेनड़ जाण।
पुन्यतणे परिणामे विचारतां मोटी निपजे रे हाम ।।

यह पुराना भजन है । इसमें बताया है कि रक्षाबन्धन आदि त्योहार पर बहन पहन ओढकर अपने पितृगृह जाती है । वह जवान है, सुन्दरी है, शृंगारयुक्त है । भाई उसको जिन आंखो से देखता है, उन्ही आखो से अपनी स्त्री को देखता है किन्तु इन दोनो के देखने में अन्तर है या नहीं ? यदि अन्तर है तो आंखों में है या मन मे ? आखें तो किसी को बहन या स्त्री बनाती हीं नही मन ही बनाता है । वही स्त्रियां जब किसी महात्मा के सामने जाती हैं, तब वे उनको बहन ही मानते हैं ।

इस तरह यह मन पाप भी पैदा करता है और पुण्य भी । इसीलिये कहा है कि इसे संकोच कर रखो । पाप और पुण्य का कारण मन ही है । कहा है कि—"मन एवं मनुष्याणां. कारणं बन्धमोक्षयोः" इस तरह काया से न करने पर भी जीव मन के द्वारा कर्मबन्ध कर लेता है ।

कोई कह सकता है कि जैनधर्म में तो मन. वचन, काय, इन तीनो को ही कर्मबन्ध का कारण कहा है। फिर मन ही को पाप का कारण कैसे बता रहे हो ? इसका उत्तर यह है कि वचन और काय के साथ भी तो मन रहता है । किन्तु इस समय मैं मुख्यतया मन का ही वर्णन करता हू, अतः मन ही के लिये कहता हू । आप देखते बहन को भी हैं और स्त्री को भी । फिर भी मन के भावों से ही पाप और पुण्य का बंध होता है । यह बात मनुष्य की हुई ।

अब पशु को भी देखिये। बिल्ली किसी जगह अपने बच्चो को तकलीफ में देखती है तब उनको वहा से हटाने के लिये पहले जाकर स्थान देख आती है। फिर उन बच्चों को मुह से उठा कर ले जाती है। वे बच्चे उसके मुह में दबे हुए अज्ञानता के कारण चूंचा करते हैं, फिर भी आप उन बच्चों को छुडाने के लिए क्या दौड़ते है ? क्यो नही दौड़ते ? आप जानते हैं कि ये इसके बच्चे हैं। इसके भाव मारने के नही हैं। समझ लो कि वह बिल्ली बच्चा रख आई और इतने मे ही उसके सामने चूहा आया। उसने चूहे को पकड़ लिया वह चूहा भी उसके बच्चों की तरह उसी के मुंह में दबा हुआ चू-चा करने लगा। तब क्या आप उसको छुडाने के लिये नही दौड़ते है ? क्यो दौडते हैं ? इस कारण कि बिल्ली के मन में बच्चो को मारने के भाव तो नही थे लेकिन चूहे को मारने के भाव हैं। विल्ली सारे ससार के चूहों को नही मार सकती फिर भी वह ससार के सब चूहों की वरन मानी जाती है क्योकि उसके भाव चूहों को मारने के हैं। वह भाव कहा है ? मन मे ही न। इस तरह मन ही पाप का कारण है। मन बड़ा शैतान है, इसके लिये शास्त्र का प्रमाण भी है।

श्रीभगवती सूत्र में श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर स्वामी फरमाते हैं कि जिस पुरुष ने किसी को मारने का सकल्प करके धनुष चढा कर उसको कान तक खीचकर वाण छोड़ा, उस समय उस पुरुष को कायिकी आदि पांचों क्रियाएं लगती हैं, क्योकि उसने संकल्प करके वाण चढाया था व छोडा था, इसलिए उसको पाचो ही क्रिया लगती है। भगवान् महावीर आगे फरमाते है कि

बाण छोड़ने से धनुष, जीवा, बाण आदि जिन पदार्थों का सयोग मिला है, यह धनुष आदि भूतकाल मे जिन वनस्पत्यादि जीवों के शरीर से बने है और वे वर्तमान मे जिस गति में हैं उन जीवों को भी पांचो ही क्रिया लगती है, और जहां सकल्प नहीं है वहां चार बताई हैं। वही बाण आकाश से नीचे गिरते हुए अन्य जीवो की हिंसा करे तो उस समय उस बाण व लकडी आदि के जीवो को तो पांच क्रियाए बताई है, और जिसने बाण छोडा था उसे तथा धनुष के जीवों को चार क्रियाए बताई हैं क्योकि उसका सकल्प उन जीवों को मारने का नही था, अत. उसे चार ही क्रिया बताई गई हैं और बाण भाला आदि के जीवो को पांच क्रियाएं बताई हैं। इसका कारण यह कि निमित्त उनके शरीर का है जिसके द्वारा हिंसा होती है। यह बात भगवती सूत्र के पांचवें शतक के छठे उद्देशे मे कही है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो पाप केवल हम करें वही लगे, जो न करें वह विशेष नही लगता, यह बात नहीं है।

कहने का सारांश यह है कि किसी समय करने में पाप ज्यादा होता है और कराने मे कम होता है। कभी कराने मे ज्यादा। यह बात विवेक-अविवेक पर निर्भर है। हां, यह अवश्य है कि करने की अपेक्षा कराने का द्रव्य, क्षेत्र, काल ज्यादा है, और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का ज्यादा है, उसी तरह पुण्य और धर्म के लिए भी है। फिर भी प्रत्येक काम मे विवेक की आवश्यकता है। विवेक न होने पर अविवेक के कारण धर्म का पाप और अल्पारम्भ का महारम्भ भी हो जाता है।

कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि जब पाप का कारण अविवेक ही ठहरा तब यदि करने वाला और जिससे कराया जावे वे दोनो ही विवेकी हो और उस दशा में स्वयं न करके उस दूसरे से, जो कि विवेकी है, कराया जाय तो क्या हर्ज है? उस दशा में तो कराने से ज्यादा पाप न होगा ? फिर तो चाहे कराया जावे या किया जावे तो समान ही होगा ? इसका उत्तर यह कि विवेक आसरी तो कराने में ज्यादा पाप न लगेगा, लेकिन कराने में करने की अपेक्षा जो द्रव्य क्षेत्र, काल ज्यादा खुला हुआ है, उसका पाप तो ज्यादा लगेगा ही। इस विषय में विशेषतः विवेक और मन के भावो से ही अधिक जाना जा सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम सामयिक मे बैठते हैं, तब करने और कराने का ही पाप त्यागते हैं। जब अनुमोदना का पाप ज्यादा है तब उसका त्याग क्यो नही करते ? बड़े पाप का त्याग क्यो नहीं किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि अनुमोदना का पाप त्यागने की शक्ति न होने के कारण ही इसका त्याग नही कराया जाता। प्रत्येक काम अपनी अपनी शक्ति के अनुसार ही होता है।

भगवान् ने अनुमोदन का त्याग करने की शक्ति नहीं देखी, इसलिये उसका त्याग नही बताया है। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि करने और कराने के पाप से अनुमोदना का पाप छोटा है। आप गृहस्थ होने के कारण अनुमोदना

के पाप से बच भी नहीं सकते । जैसे आप सामयिक में बैठे हैं, उस समय आप करने कराने का त्याग तो करके बैठते हैं लेकिन आपके घर पर व दुकान आदि का जो काम हो रहा है क्या उसका भी त्याग करते है ? इस कारण अनुमोदना का त्याग कैसे कर सकते हैं ?

इस प्रकार दुराग्रह का त्याग करके, शास्त्र के विधान को दृष्टि में रखते हुए, सत्य को समझने का प्रयत्न करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है ।



व्रत विचार

अहिंसाणुव्रत

सब जीव सुख चाहते हैं ।

मनुष्य-प्राणी, ससार के तमाम जीवों में महा बुद्धि-शाली माना गया है । यह प्राणी स्व-पर का जितना ज्ञान कर सकता है, उतना और कोई भी प्राणी नहीं कर सकता । जिस प्रकार यह अपने सुख-दु:ख का ज्ञानी होता है, उसी प्रकार इसमें यह भी ताकत है कि यह दूसरे प्राणियो के सुख-दुःख का भी ज्ञान प्राप्त कर सके ।

वैसे तो हर एक मनुष्य को यह ज्ञान किसी अंश तक प्राप्त है, पर सर्वांश मे उन्ही महापुरुषो को प्राप्त होता है, जो तीर्थङ्कर तथा सर्वज्ञ कहे जाते हैं । साधारण मनुष्य, ज्यादा से ज्यादा अपनी चक्षु-इन्द्रिय आदि की स्थूल-शक्ति जहां तक काम कर सकती है, वहाँ तक किसी वस्तु के बारे मे ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थङ्कर या सर्वज्ञ कहे

जाने वाले महापुरुषों में, वह शक्ति होती है कि दृष्ट-अदृष्ट तमाम वस्तुओं की अर्थात् जीव-अजीव की अन्त तक की असलियत का ज्ञान रखते हैं। इसलिये शास्त्रकार उनको खेयन्ने, (खेदज्ञ) का विशेषण देते हैं।

यह तो आप जान ही गये होंगे कि जीव और अजीव कहने में संसार की तमाम वस्तु का ग्रहण हो जाता है। तीर्थङ्कर प्रभु व सर्वज्ञों ने हमें ज्ञान कराया है कि समस्त जीव, सुख के अभिलाषी हैं, कोई भी दुख को पसन्द नहीं करता।'

संसार के जीवों की इतनी जातियां हैं कि हम उनकी गिनती नही कर सकते। अतएव प्रभु ने हमें इन तमाम जीवों के मोटे पांच भाग कर, सब का बोध करा दिया है। वे पांच भाग ये हैं:—

'एकेन्द्रिय,बेइन्द्रिय,तेइन्द्रिय,चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

अर्थात्—एक इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव और पांच इन्द्रिय वाले जीव।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति आदि। जिनके केवल एक स्पर्श—इन्द्रिय होती है, उनको एकेन्द्रिय जीवों में गिनती हैं, जिनके स्पर्श और रसेन्द्रिय हो, उनकी बेइन्द्रिय जीवों में गिनती है, जैसे कृमि आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण तीन इन्द्रिय हो, उनकी त्रीन्द्रिय जीवों में गिनती है, जैसे चींटी आदि।

जिनके स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु-इन्द्रिय हो, उनकी चौइन्द्रिय जीवो मे गिनती है, जैसे मक्खी आदि । जिनके स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र हो उनकी पचेन्द्रिय जीवो में गिनती है, जैसे देवता, मनुष्य, तिर्य्यंच आदि ।

जल मे जीव है, यह बात आज के साइन्स ने पूर्ण-रीति से सिद्ध कर दी है । हम आखो से नही देख सकते, पर वैज्ञानिको ने यन्त्रो के द्वारा, जल मे लाखो जीव बतलाये है, पर ये जल के जीव नही—ये तो त्रस जीव है। जल, खास स्थावर—योनि के जीवो का पिण्ड है । इससे निश्चय हो गया है कि जैन सिद्धान्त सत्य ही है ।

जिस प्रकार, कई लोग जल मे जीव नहीं मानते, वैसे ही वनस्पति मे भी नही मानते पर विज्ञान के बल से अब यह सन्देह मिटता जाता है । वैज्ञानिको ने इनमे जीव होना सिद्ध कर दिया है । विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बोस का नाम आप लोगो ने सुना होगा । ये ससार के बहुत बड़े वैज्ञानिको मे गिने जाते हैं । इनका यूरोप, अमेरिका आदि देशो में बडा मान किया जाता है । ससार के कई धुरन्धर-वैज्ञानिक इनको अपना गुरु मानने मे सौभाग्य समझते हैं । इन्होने 'वनस्पति मे जीव है' इसका प्रयोग बम्बई मे करके बतलाया था । सुना गया है कि दर्शको की फीस ४० रु. थी । लोकमान्य—तिलक, इस जलसे के प्रेसीडेन्ट थे । लोगो की भीड़ बहुत ज्यादा थी । ४० रु० टिकट के देने पर भी लोगो को जगह नही मिलती थी । जगदीश बाबू जिस समय अपना प्रयोग दिखाने लगे, उस समय सामने की लाइन मे पौधो के गमले रखे । उन गमलो के आगे की तरफ काच

के बड़े—बडे तख्ते लगाये । फिर सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर सजा कर, उपस्थित जन—समुदाय से कहा कि आप लोग सामने देखिये, मैं इन पौधो को खुश करता हू । इतना कह कर बोस बाबू, पौधो को हर्षोत्पादक शब्दो में सम्बोधन कर उनकी तारीफ करने लगे । ज्यो-ज्यो तारीफ करते गये, त्यो-त्यो वे पौधे, जैसे किसी आदमी की स्तुति करने पर वह आदमी खुश होता है उसी प्रकार खुश होकर फूलने लगे ! फिर जब इन्होने उनकी निन्दा करनी शुरू की, उनके लिए खराब शब्द का प्रयोग करने लगे, तो वे पौधे मुरझाने लगे । लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ । उनको विश्वास हो गया कि वृक्षो मे जीव होता है ।

बोस बाबू इतना ही करके न रह गये पर उन्होंने वृक्षो मे स्नायु-जाल है और वह मनुष्यो की तरह स्पन्दित होता है, इसको भी सिद्ध करके बतलाया ।

वैज्ञानिको ने जिस प्रकार वनस्पति मे जीव सिद्ध किया है, उसी प्रकार धातुओ में भी सिद्ध किया है ।

ये एक दो प्रयोग ४०)रु० खर्च करने पर मालूम पडे, पर आप जैन—सिद्धान्त के लघुदडक नामक एक थोकड़े को सीख कर साइन्स का बहुत विज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

इनका साइन्स अभी अपूर्ण है; पर हमारे अरिहन्तों का साइन्स बहुत बढा-चढा है । वहा तक पहुचने में इन वैज्ञानिको को न जाने कितना समय लगेगा । इन्होने अभी एक अंश की ही खोज की है, पर हमारे शास्त्रों ने वनस्पति

का शरीर, अवगाहना, कषाय, संज्ञा, लेश्या, वेद, ज्ञान योग स्थिति और गतागति आदि का भी वर्णन कर दिया है। ये शास्त्र, आजकल के प्रयोगो को देखकर नही लिखे गये, पर हजारो वर्ष पूर्व के लिखे हुए है।

वनस्पति मे एक इन्द्रिय मानी जाती है कई भाई शङ्का कर सकते हैं कि जब इनमे एक इन्द्रिय है, कान आदि तो है ही नही फिर निन्दा-स्तुति का ज्ञान किस प्रकार करते होगे ? इस विषय मे 'आचाराग', 'विशेष आवश्यक नत्र' तथा 'ठाणाग-सूत्र की टीका में बहुत अच्छा खुलासा किया गया है, वहां देखना चाहिये।❀

हाल के विज्ञान ने वनस्पति, जल आदि मे जीवो की सत्यता प्रकट की, पर अग्नि, वायु आदि मे अभी तक नहीं कर सका। इससे हमको निराश न हो जाना चाहिए, क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि यह अभी तक अपूर्ण है। सम्भव है, यह अपनी इसी प्रकार की कोशिश के बल से, किसी दिन इस सत्य तक भी पहुच जाय।

तात्पर्य यह कि जब वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं और दुःख को न चाह कर सुख को पसन्द करते हैं, तब अन्य प्राणी भी सुख ही चाहते हैं, इसमें क्या सन्देह हो सकता है ?

❀ वहा एकेन्द्रिय जीवो के भी भाव-रूप पाचो इन्द्रयो का क्षयोपशम बतलाया है। उपकरण इन्द्रिय एक ही होने से उन्हे एकेन्द्रिय कहा है।

मित्रो ! क्या उन महापुरुषों की वाणी अपने अकेले के लिए ही है ? नहीं-नहीं, जैसे वृक्ष के फल हरएक के लिए हैं- वैसे ही शास्त्र हरएक के लिए हैं—उनसे हरएक तिर सकता है ।

आप कह सकते हैं कि सिद्धान्त किसका सत्य मानना चाहिए ? संसार में जैन, वैष्णव, क्रिश्चियन, मुसलमान सभी के सिद्धान्त प्रचलित हैं और सभी यही मानते हैं कि हमारे सिद्धान्त को मानो तो तिर जाओगे । ऐसी दशा में किस सिद्धान्त पर चलना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि जो सिद्धान्त, आत्मसाक्षी से पूर्ण हो अर्थात् जिसके लिए स्वयं अपना आत्मा भी गवाही देता हो और जिससे इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो, ऐसे राग-द्वेष-रहित एव वीतराग द्वारा कथित सिद्धान्त को सत्य समझना चाहिये ।

बड़े-बड़े ग्रन्थो मे जो बातें हैं, महात्मा पुरुषों ने अपने लिए थोड़े शब्दों मे उनका सार कह दिया है कि:—

'अहिंसा परमो धर्मः ।'

तुलसीदासजी ने भी इस बात को एक दोहे में स्पष्ट किया है:—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट मे प्राण ।।

धर्म का मूल क्या है ? 'दया ।'

दया किसलिए ? दया क्यों समझनी चाहिए ? क्या जेन-शास्त्र कहता है इसलिए ? या वेदान्त या वैष्णव कहते है, इसलिए ? नहीं इसलिए कि वह धर्म का मूल है ।

हिंसा

हिंसा पाप क्यों है ? यह प्रश्न और किसी से न पूछो । अपने आत्मा से ही पूछो । दया, आपको क्षण-क्षण में नजर आयेगी और वह जरूरी है, इसीलिए धर्म का मूल मानी गई है । इसके लिए शास्त्र के प्रमाण की कोई जरूरत नहीं किन्तु अनुभव-प्रमाण अथवा आत्म–प्रमाण से ही इसकी सत्यता जानी जा सकती है ।

आपके सामने, एक आदमी चमकती हुई नंगी तलवार लेकर खड़ा है और वह आपको मारना चाहता है । दूसरा मनुष्य आपकी रक्षा की चेष्टा करता हुआ उसे इस बात का उपदेश देता है कि प्यारे ! इसको क्यों मार रहा है ? वह जवाब देता है कि 'इसे मारना मेरा धर्म है, मनुष्य की हत्या करने से पुण्य होता है, ऐसा मेरा शास्त्र कहता है ।' बतलाइये, इन दोनो मे से आपको प्यारा कौन लगेगा ?

'रक्षा करने वाला ।'

जो मनुष्य तलवार के द्वारा आपके जीवन का अन्त करना चाहता है, वह यह कृत्य करता तो है अपने शास्त्र के अनुसार ही, पर आप उस शास्त्र को कैसा मानेंगे ?

'वह शास्त्र नही, वल्कि शस्त्र है ।'

क्यों ? 'इसलिए कि वह अपने आत्मा के विरुद्ध है ।'

बस, आत्मा के विरुद्ध जो-जो बातें हो, वे ही अधर्म हैं। उनका करना पाप है। इसलिए उन कार्यों की मनाई की गई है। महाभारत के अन्दर भीष्म पितामह ने यही बात कही है:—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'

मित्रो! दया केवल मनुष्यो में ही नही होती, परन्तु इसका किंचित् बाह्यरूप दूसरे प्राणियों में भी देखने मे आता है। सिहनी, दूसरो पर देखते ही हमला करती है, लेकिन क्या वह अपने बच्चे पर भी हमला करती है ?

'नहीं ।'

क्यो ? इसीलिए कि उसमे भी अपनी सन्तान के प्रति दया है।

साप एक जहरीला जानवर है, किन्तु उनमें भी कई एक के व्यवहार में दया देखी जाती है। जैसे नूरजहा पर सर्प ने फण किया था, उसे काटा नही। सेंधियो के आदि-पुरुष महादजी सेंधिया पर भी सर्प ने छाया की थी। इस कारण साप का चिह्न आज भी ग्वालियर के सिक्के और झण्डे पर मौजूद है।

मनुष्य मे भी कुछ अश मे व्यावहारिक दया है, नही तो एक दूसरे को मार डाले। माता बच्चे को सूखे मे सुलाती है, पर स्वय गीले मे सोती है। क्यों ? क्या वह

बच्चा जन्मते ही उसे कमा कर देता है ? या और कुछ सहायता करता है ?

'नही ।'

तब माता ऐसा क्यों करती है ?

इसीलिये कि उसमें अपनी सन्तान के प्रति व्यावहारिक दया है ।

मित्रो ! दयाहीन प्राणी, हिंसक, क्रूर, पापी, निर्दयी, म्लेच्छ कहा जाता है; अतएव दया करना सबका मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये । दया का दूसरा नाम ही अहिंसा है, क्योकि जिसमे हिंसा न हो, उसे अहिंसा कहते हैं । जैसे नहीं मारने में हिंसा नही है, उसी प्रकार रक्षा करने में भी हिंसा नहीं है । इसलिए दया और अहिंसा एक ही बात है । जो लोग नहीं मारने को तो अहिंसा कहते हैं, परन्तु जीवो को बचाने मे अहिंसा नही मानते, वे भारी भूल करते हैं क्योकि जीव को बचाने मे भी किसी जीव की हिंसा नहीं है फिर वह अहिंसा क्यो नही है ? अवश्य है ।

मोटी समझ से 'हिंसा' वह कृत्य कहलाता है, जिसके द्वारा किसी प्राणी के जीवन का अन्त किया जाय ।

प्रश्न उठ सकता है, कि जब आत्मा अजर-अमर अविचल है, त्रिकाल मे भी मारने से नही मरता तब हिंसा कैसी ? जिस वस्तु का विनाश नही होता, उसका नष्ट होना कैसा ? उदयपुर के एक वकील ने भी यही प्रश्न किया था ।

भाइयो ! आत्मा अविनाशी है, तभी तो हिंसा लगती है। यदि आत्मा अनात्मा बन जाता हो, तो हिंसा किसे लगे ? मारने वाले का आत्मा नष्ट हो गया और मरने वाले का आत्मा नष्ट हो गया, तब तो हिंसा अहिंसा का सवाल ही नहीं रहा। आत्मा अजर-अमर अविनाशी है; इसी से मारने वाले को पाप और बचाने वाले को धर्म होता है। आत्मा के पास आयुष्य-रूप प्राण है, जो दस प्राणों में अन्तिम प्राण है। उसको अकाल में जुदा कर देना यानी आत्मा मे प्राणों को अलग कर देना, इसी का नाम हिंसा है। जैसे—जो रात भर लालटेन मे जल सकता है उस घासलेट तेल को दियासलाई बतला कर एकदम जला डालना 'अकाल में नष्ट कर दिया' कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा के पास आयुष्य-प्राण होते हुये भी छुरी-तलवार आदि से दुःख पहुंचा कर शरीर का अन्त कर देना, उसे हिंसा कहते हैं।

लोगों के विचार आज अति संकुचित हो रहे है। जब इनके विचार विस्तृत हो जायेंगे, तब हिंसा के सच्चे स्वरूप ज्ञान इनमें फैल जायगा। धर्म के विषय में दुनिया में जो कुतर्क फैल रहे हैं, अर्थ में जो खीचातानी की जाती है, वास्तविक ज्ञान के फैलने पर यह सब अन्धाधुन्धी मिट जायगी।

मित्रो ! मोटी दृष्टि से जो हिंसा कही जाती है, उसे आप समझ गये, पर जैन-शास्त्र इससे भी गहरी बात बतलाता है। वह कहता है कि किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से किसी प्रकार का दुःख पहुचाना या दुःख देने का

इरादा करना भी हिंसा है। इससे भी गहराई के साथ कहता है कि ऐसा करना, कराना और किये हुए को अच्छा मानना अनुमोदन करना मन से, वचन से अथवा कर्म से वह भी हिंसा ही है।

यदि आप किसी को गाली देकर, उसका मन दुखाने का प्रयत्न करते हैं तो समझिये कि मैं एक प्रकार की हिंसा कर रहा हू। यदि आप किसी का अपमान कर रहे हैं तो भी समझ लीजिये कि मैं एक प्रकार की हिंसा का भागी बन रहा हूं। यदि आप किसी को लड़ाई-झगड़ा करने की सलाह देते हैं तो समझिये कि मेरा यह कृत्य एक प्रकार की हिंसा मे शामिल है। इतना ही नही,मन से किसी का बुरा विचारना भी हिंसा है। इन तमाम हिंसाओ के करने वाले प्राणियो को यथासमय बदला चुकाना पड़ता है। इन कृत्यो से गाढे चिकने कर्म बन्धते हैं।

शास्त्र–कथा मे तन्दुलमच्छ का उदाहरण आया है। लिखा हैं कि तन्दुलमच्छ समुद्र मे रहने वाले, हजार योजन की अवगाहना वाले मच्छ की आखो की भौ पर रहता है। तन्दुलमच्छ बहुत ही छोटा जीव होता है। उस बड़े मच्छ की स्वास से जल के साथ हजारो मच्छिया, मच्छ के मुख मे खिच आती हैं और उच्छ्वास छोडने पर वापस निकल जाती है। यह दृश्य देखकर तन्दुलमच्छ विचारता है कि यदि इस मच्छ के स्थान पर मैं होता और मेरे मुह मे इतनी मछलियां आ गई होतीं, तो मैं एक भी मच्छी को वापिस न निकलने देता और सभी को खा लेता। यद्यपि तन्दुलमच्छ शरीर से कुछ नही कर सका, उसने केवल हिंसा की भावना

ही की, फिर भी उसे सातवें नरक मे जाकर असंख्य वर्षों तक दु.ख उठाना पड़ता है क्योंकि उसने मानसिक हिंसा की।

जिस प्रकार मन में किसी का बुरा विचारना मानसिक हिंसा मे गिना गया है, वैसे ही प्रकट रूप मे किसी की निन्दा करना भी हिंसा के बराबर है अर्थात् वाचिक हिंसा है और काय से बुरे कार्य मे प्रवर्त्तना, दुःख देना कायिक हिंसा है। इसके प्रमाण मे महाभारत मे भी एक उदाहरण मिलता है। महाभारत के युद्ध में, जिस समय कर्ण के बाणो से घायल होकर युधिष्ठिर अपने शिविर मे पड़े थे और अर्जुन उनको कुशल पूछने आये, तब युधिष्ठिर ने दुःख के आवेग मे अर्जुन से कहा कि तुम्हें और तुम्हारे गाण्डीव धनुष को धिक्कार है! तुम्हारे मौजूद होते हुए कर्ण के बाणो ने मेरी यह दशा की और तुमने आज तक कर्ण का वध नहीं किया? अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो मनुष्य मेरे गाण्डीव की निन्दा करेगा, मैं उसका वध करूंगा। अतः युधिष्ठिर के मुंह से गाण्डीव-धनुष की निन्दा सुनकर अर्जुन खड्ग निकाल कर युधिष्ठिर का वध करने चले। उस समय श्रीकृष्ण ने उन्हे रोकते हुए कहा कि अपने से बडे का अपमान कर देना ही उनका वध करना है। तुम युधिष्ठिर का अपमान उन्हे मारने दौड़कर कर चुके, अतः तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। अब उनके वध करने की जरूरत नही है।

कहने का मतलब यह है कि किसी का अपमान करना उस व्यक्ति की हिंसा करने के बराबर है।

हिंसा का वर्णन इतना गहन है कि इसकी व्यवस्था

मे बडे-बड़े विस्तृत ग्रन्थ बन सकते हैं, किन्तु आचार्यो ने सक्षेप में यह वाक्य फरमाया है कि "प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणम् हिंसा" अर्थात् असावधानी से प्राणो को नष्ट करना ही हिंसा है। इसलिये हिंसा के पाप से बचने के लिए प्रत्येक कार्य में सावधानी रखकर यतना करनी चाहिए। श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि यतनापूर्वक उठता, बैठता सोता, चलता-फिरता, खाता-बोलता, पाप-कर्म नही बाधता है और हिंसा के पाप से बच सकता है।

हिंसा के कारण

हिंसा, किन-किन कारणो से होती है, इसका विवरण शास्त्र मे बहुत विस्तार से आया है। यदि उन तमाम कारणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो बहुत समय की जरूरत है। अत संक्षेप में ही बतलाया जाता है।

ससार में करोड़ो ऐसे प्राणी विद्यमान हैं, जो हमें दृष्टिगत नही होते। उनका पुंज हमारे चारो तरफ चक्कर काटता है पर हम उन्हे देख नहीं सकते। ऐसे प्राणियो की हिंसा अनजान में चलते, फिरते, बैठते, श्वांस लेते, किसी वस्तु को इधर-उधर रखते एवं आग जलाते समय हो ही जाती है। चीटी आदि विकलेन्द्रिय प्राणी, जिन प्राणियों को आखो से देख सकते हैं उनकी भी प्राय अनजान में इसी प्रकार हिंसा हो ही जाती है। रहे बड़े प्राणो, उनकी हिंसा मनुष्य क्यो करता है? इसके उत्तर मे शास्त्र कहता है कि कोई मांस के लिये, कोई हड्डियो के लिये, कोई

चमड़े के लिये, कोई चर्बी के लिये, कोई दांतों के लिये, कोई रक्त के लिए, कोई बालो के लिये। इसी प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न स्वार्थों के कारण, बिचारे पशुओं की हिंसा की जाती है। पशुओ की ही नही मनुष्यो की भी हिंसा की जाती है।

किसी वस्तु को सड़ा कर, उसका कोई पदार्थ तैयार करना, यह भी एक हिंसा का ही कारण है क्योकि सड़ाने पर उस वस्तु मे सैकडो सूक्ष्म जीव पैदा होते हैं, जैसे शराब आदि। ऐसी चीज काम मे लाने वाले, उन जीवो की हिंसा के कारण बनते हैं तथा उन जीवो के मरने पर दुर्गन्ध आदि फैल कर जो रोगादि फैलते हैं, यह भी हिंसा का ही साधन माना गया है।

इसी तरह कितने अज्ञानी कुतूहलवश भी प्राणियों की हिंसा करते हैं। जब वे वेचारे पशु कष्ट पाकर चिल्लाते हैं, तब वे अज्ञानी खुश होते हैं और अपने दिल में आनन्दानुभव करते हैं। उन्हे यह विचार नही आता कि यह वेचारा परवश दु:ख पा रहा है, आक्रन्द कर रहा है, इसकी आत्मा को घोर दु ख हो रहा है। मुझे दया लाकर इसे कष्ट से मुक्त करना चाहिये, अपितु उसको तडफड़ाता हुआ देखकर वे प्रसन्न होते हैं। नारकी में भी नैरयिकों की पीड़ा देखकर परमाधर्मी देव इसी तरह खुश होते हैं और उनकी चिल्लाहट को कुतूहल का विषय बना लेते है। अज्ञान से महान् चिकने कर्मो का वन्ध होता है। वही परमाधर्मी देव देवयोनि से च्यव कर स्वल्पकालीन तिर्यंच योनि में आ जाते हैं और वहा से काल करके उसी नरक में नैरयिक

बन जाते हैं और वे नैरिये जो मार खाते थे, वहां से आयु पूर्ण होने पर तिर्यंच का भव करके परमाधर्मी देव बन जाते हैं, जो अब मारते हैं। इस प्रकार अज्ञान–आत्मा कुतूहलवश भी प्राणियो की हिंसा करता है।

कई एक अज्ञानी धर्म-भावना को लेकर भी प्राणियो की हिंसा करते हैं, जिनमें कुछेक स्वार्थ-लोलुप लोगो ने देवता आदि को प्रसन्न करने के हेतु तथा कुछेक अभिमानी लोगो ने अभिमान मे आकर अज शब्द का अर्थ बकरा आदि पशु करके वेदादि की श्रुतियों मे अजमेघ, अश्वमेघ, नरमेघ आदि यज्ञो का विधान करके इसको धर्म का रूप दे दिया है और यज्ञ होम मे बलि दिया हुआ पशु तथा देने वाला स्वर्ग सुख प्राप्त करता है, ऐसे विधान से भोली जनता बिचारे मूक पशुओ की हिंसा करने लग गई है। परन्तु ऐसी हिंसा धर्म नहीं—अधर्म ही है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियो ने इस कार्य की निन्दा करते हुए कहा है कि—

यूप छित्वा पशून्हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥१॥

महाभारत शान्तिपर्वणि।

यज्ञ के करने वाले, पशु के हनने वाले, बलि देकर रुधिर का कीचड़ करने वाले भी जो स्वर्ग मे जाएगे, तो फिर नरक में कौन जाएगा? इससे स्पष्ट है कि प्राणि-हिंसा मे धर्म नहीं, किन्तु अधर्म ही है। इस प्रकार अनेक कार्य ऐसे हैं जो हिंसा के कारण हैं। ऐसे हिंसा के कारणों को समझ कर उनसे बचना ही बुद्धिमानी है।

अहिंसा व्रत के अतिचार

स्थूल प्राणातिपात से निवर्तने वाले व्रतधारी श्रावक को पंच अतिचार जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नही हैं। वे पाच अतिचार ये हैं :— (१) बन्धन (२) वध (३) छविच्छेद (४) अतिभार (५) भत्तपाणी-विच्छेद।

किसी रस्सी आदि से बांधना, उसे 'बन्धन' कहते हैं। चाबुक आदि से मारना, उसे 'वध' कहते हैं। करवत आदि शस्त्रो से शरीर को फाडना या शस्त्र द्वारा किसी अवयव को काटना, छेदना, उसे 'छविच्छेद' कहते हैं। सुपारी, नारियल आदि भार को पशु के कन्धे, पीठ आदि पर शक्ति से ज्यादा से ज्यादा भरना, उसे 'अतिभार' कहते हैं। 'भत्त' याने ओदन आदि खाने की चीज और पाण याने पानी आदि तृषा मिटाने की वस्तु, उसका विच्छेद कर देना अर्थात् भात-पानी न देना, उसे 'भत्तपाण-विचयद' नामक अतिचार कहते है।

१-बन्धन

पहला 'वध' नामक अतिचार आया है। बन्ध के दो भेद होते हैं। एक तो दोपद को बाधना और दूसरा चौपद को बांधना। दास दासी, नौकर-चाकर तथा लड़के-लड़की आदि की गिनती दोपद मे है और हाथी, घोड़ा, भैस, बकरी, गाय आदि की चौपद मे। ये दो कारणो से बांधे जाते हैं,

जैसे अट्ठाय–अनट्ठाय, अर्थ के लिये और अनर्थ के लिए। किसी को बिना मतलब बाधना और उसे कष्ट देना, उसकी कुदरती बाढ को रोक देना यह एक प्रकार की हिंसा है। श्रावक को चाहिए कि इससे बचे।

अट्ठाए अर्थात् अर्थ से बांधना। इसके भी दो भेद हैं, निरपेक्ष तथा सापेक्ष। निरपेक्ष उसे कहते हैं, जो लापरवाही से बाधा जावे, ऐसा बाधा जावे कि वह अपने हाथ पैर भी न हिला सके। ऐसा बाधना श्रावक का धर्म नही है। दूसरा बाधना है सापेक्ष। मतलब के लिये करुणा रखकर जो बाधा जावे, उसे सापेक्ष कहते है। शास्त्र कहता है कि पशु आदि को करुणा छोड कर इस प्रकार न बाधे कि उन्हे दु:ख हो। मौके वेमौके जैसे लाय (अग्निकांड) आदि में जल्दी खोला न जा सके, ऐसा न बांधे।

दोपद दास–दासी, पुत्र-पुत्री आदि यदि उद्दण्डता करते हो, उनको सुधारने के लिये बाधना, यह सापेक्ष बाधना है। चोर को चोरी करने की सजा, यानी चोरी की आदत मिटाने के लिए बाधना, यह भी सापेक्ष है। इसी प्रकार पुत्रादि को पढने के लिये बांधना, यह भी सापेक्ष है।

मैं कई बार कह चुका हूं कि यह धर्म राजाओं के मुकुट पर रहने वाला है। राजा इस धर्म को धारण कर सकता है। राजा इस धर्म को धारण करे और अपने फर्ज के अनुसार प्रजा के कल्याण के लिये अन्यायियो को दण्ड दे, चारो का बाधे और मौका आ पड़े तो जुल्मी को सजा भी दे। गुस्से मे आकर नही, पर न्याय से अभियुक्त की

पूरी जांच कर यदि यथार्थ में दोषी हो और उसके जीने से प्रजा को महान् कष्ट पहुचने की अथवा शान्ति भंग की पूरी सम्भावना हो तो उसे फासी की सजा देना, यह भी सापेक्ष में गिना जायगा ।

वैसे तो राजा फांसी की सजा दे सकता है, पर जिन्हे केवल बन्धन की ही सजा दी गई है, उनके भरण-पोषण में कभी दुष्टता का परिचय न देना चाहिये । उनकी भूख-प्यास यथा अन्य शारीरिक बाधाए न रुकें, इसकी तरफ ध्यान देना, राजा का कर्त्तव्य है । इतने दिन तो उसकी जिम्मेवारी उसी के ऊपर थी पर अब उसके जीवन की जिम्मेवारी राजा पर है । यदि उसे किसी प्रकार का न्याय-युक्त कानूनी कष्ट के सिवाय कष्ट भोगना पड़ेगा तो उसका अपराध राजा के सिर होगा । जो राजा इस बात का ध्यान न रखेगा, उसका दोष राजा के ऊपर तो है ही, पर उसका राज्य भी दोषी हो जायगा ।

यह बात तो हुई द्रव्यबन्धन की । ऐसा ही भावबन्धन के लिये भी समझ लेना चाहिए अर्थात् जाति के बन्धन, रीति-रिवाज, ठहराव, कानून, ऐसे न हों कि विचारे गरीब कुचल-कुचल कर रिब-रिब कर मर जावें । जिस समाज मे अन्याय-युक्त कानूनो का प्रचार न होगा और जो अभी प्रचलित कितने ही विपरीत कानून हैं, उनको ठुकरा देगा, उस समाज में रामराज्य का सा आनन्द फैल जायगा इसमें कोई सन्देह नही है ।

२—वध

पहले अतिचार का कुछ विचार हुआ । अब दूसरे

अतिचार वध (हनन) पर विचार किया जाता है। इसके दो भेद होते हैं-एक 'अनर्थ', दूसरा 'सार्थ'। रास्ते चलते हुए बिना कसूर किसी मनुष्य या पशु को डण्डे, चाबुक आदि से चोट पहुंचाना, अनर्थ में गिना जाता है। अर्थ 'हनन' के दो भेद हैं-एक साक्षेप और दूसरा निरपेक्ष। दया-रहित होकर यानी अंग-उपाग मे चोट पहुच जाने का विचार न कर जो मार पीट की जाती है, उसे निरपेक्ष कहते हैं और जो सुधार के ख्याल से, अपना व्रत भग न हो जावे-मानो मैं अपने ही शरीर पर मार रहा हूं, ऐसा ख्याल करके जो दण्ड देता है, वह साक्षप है अथवा पशु आदि को उल्टे रास्ते न जाने देने या चलाने के ख्याल से जो प्रहार किया जाय वह भी साक्षेप है।

३—छविच्छेद

तीसरा अतिचार है 'छविच्छेदन'। इसके दो भाग हैं—सार्थ और अनर्थ। बिना प्रयोजन कुतूहलवश किसी मनुष्य या पशु-पक्षी का अंगोपाग छेदना अनर्थ है, इसे श्रावक त्यागें। अर्थ के दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। करुणा रहित होकर किसी की चमड़ी छेदना निरपेक्ष छविच्छेदन है और करुणा रखते हुए किसी रोग की चीर-फाड करना, सापेक्ष छविच्छेदन कहलाता है। ऐसा करते हुए भी, श्रावक अपने व्रत से पतित नही होता। इतना ही नहीं किन्तु दुखियो के दु.ख मिटाने से करुणा भाव का लाभ भी ले सकता है। हां, इस समय प्रयोग के लिये निरपराध प्राणी को चीर डालते हैं, वे अवश्यमेव व्रत के घाती है परन्तु रोगी का

रोग मिटाने के लिये जो ऑपरेशन किया जाता है, वह सापेक्ष छविच्छेदन है ।

४—अतिभार

अब चौथा अतिचार 'अतिभार' आया । पहली बात तो यह है कि श्रावक को गाड़ी आदि से अपनी आजीविका चलानी ही नहीं चाहिये । यदि चलानी ही पड़े तो सापेक्ष और निरपेक्ष का ध्यान जरूर रखना चाहिये । बैल तथा घोड़ो आदि के ऊपर इतना बोझ न लाद देना चाहिए कि विचारों की पीठ, टांग आदि टूट जाय, या शक्ति से ज्यादा काम लेने से, उन्हे अपनी जीवन लीला ही जल्दी समाप्त करनी पड़े ।

कई मनुष्य भी अपने पेट के लिए बोझ उठाने का काम करते है । आप लोगों का कर्त्तव्य है कि दया कर उनसे शक्ति से ज्यादा काम न लें । उनको उतना बोझ उठाने का अधिकार है, जितना वह अपने हाथ से सुख-पूर्वक उठा और रख सकें ।

कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई आदमी अपनी मर्जी से, शक्ति से ज्यादा बोझ उठाना चाहे तो ? इसका उत्तर यह है कि यदि वह अपने मन से भी उठाना चाहे तो भी श्रावक को उसे न उठाने देना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार बोझा उठाने से, उसकी जिन्दगी जल्दी खतम हो जाती है, ऐसा पुस्तकों के अन्दर पढ़ने में आया है । ऐसा करने से एक दोष और भी है और वह यह कि करुणा का भाव नष्ट हो जाता है ।

मनुष्य, बैल, घोड़ों आदि के ऊपर ज्यादा न लादना चाहिये, यह बात तो आप समझ ही गये। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि असमय मे लड़के–लड़कियो का विवाह करना भी उन पर अनुचित बोझा डालना है। अनमेल के साथ विवाह कर देना, यह भी अनुचित बोझा है। प्रजा के हित को सामने न रख कर, जो कानून (अन्याययुक्त) उनके द्वारा जबर्दस्ती पलवाये जाते हैं, यह भी एक प्रकार का बोझ है। अतएव इन कामो को श्रावक व्रत धारी मनुष्य (राजा आदि भी) कभी न करे।

जिन पशुओ और मुनुष्यो को अपने अधीन कर रखे हैं, उनको समय पर विश्राम देना, शक्ति से अधिक काम न लेना, इस तरफ से कभी बेभान न होना चाहिये। वर्तमान मे मालिकों की तरफ से उपेक्षा बढ़ने तथा अत्यधिक समय तक काम लेने के कारण सरकार को कानून बनाकर रोक लगानी पडी है। श्रावक को इस विषय मे बहुत सावधानी रखनी चाहिये। तभी वह अतिचार से बच सकता है।

५--भक्तपानविच्छेद

पांचवा अतिचार 'भक्तपाणीविच्छेद' है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद हैं। श्रावक को चाहिये कि अनर्थ से निष्कारण हास्य–कौतूहल वश किसी को भूखो न मारे। सापेक्ष भूखो मारने मे, कोई दोष नही गिना गया है।

समाज के अन्दर, अभी ऐसी बेहूदगी फैली हुई है कि वैद्य वगैरह आज्ञा देते है कि इसको रोटी आदि मत देना;

तो भी घर वाले 'कुछ तो खाले' कह–कह कर जबरदस्ती खिलाते है । रोगी अवस्था मे विचार–पूर्वक भूखे रहना, रोग को भूखा रखना है । इसी प्रकार रोगी अवस्था मे बिना विचार से खाना, रोग को खिलाना है । वैद्य आदि निश्चय कर कहे कि इस राग मे रोटी आदि देना हानिकर है, ऐसी अवस्था में रोटा न दी जाय, तो यह व्रत का अतिचार नही, पर करुणा का काम है । किसी को सुधारने के लिये 'रोटी न दी जायगी' ऐसा भय दिखाना सापेक्ष में गिना गया है । परन्तु निरपेक्षता से ऐसा करना और अपने आश्रित मनुष्य या पशु-पक्षी आदि के खान-पान की सम्भाल न करना, यह भातपाणी-विच्छेद नामक अतिचार है ।

हिंसा के कार्य और उनसे बचने के उपाय

मित्रो ! हिंसा बुरी है, ऐसा सारा जगत् कहता है, पर इसके सच्चे स्वरूप को समझे बिना, इससे बच नही सकते । हिंसा का स्वरूप शास्त्र में निराले-निराले ढङ्ग से बतलाया है । इसका यही मतलब है कि मनुष्य इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान ले । वस्तु के गुण–दोष को अनेक रूप से बतलाने का तात्पर्य केवल यही है कि यदि वह वस्तु अच्छी हो तो लोग उसके प्रति आदर और बुरी हो तो उसका तिरस्कार करें ।

आत्मा, हिंसा कब करता है और दया कब ? यह मैं बतलाना चाहता हू । आत्मा के दो गुण हैं—शुभ गुण और अशुभ गुण । शुभ गुण मे प्रवृत्त होने से, आत्मा दया करता

है और अशुभ में प्रवृत्त होने से हिंसा। हिंसा और अहिंसा, आत्मा के परिणाम हैं। इन पर गणधरों ने शास्त्रो के अन्दर बडी ही मार्मिकता के साथ चर्चा चलाई है। उनके परिश्रम का लाभ लेना प्रत्येक मनुष्य के लिए हितावह होगा।

शास्त्र में जिस प्रकार एक वस्तु के अनेक भेद बतलाये हैं, उसी प्रकार हिंसा के भी कई भेद बतलाए हैं। इसका कारण यही है कि लोग किसी भी प्रकार से हिंसा से बचें। हिंसा के बुरे गुणों को प्रकट करना, हिंसा पर कोई क्रोध नही है, यह तो उसके सच्चे स्वरूप को बतलाना है। वस्तु के यथार्थ गुण--दोष बतलाना, संसार के कल्याण के लिये बहुत जरूरी है।

यदि शास्त्र हिंसा--अहिंसा का रूप न समझावे तो मनुष्य उससे दूर कैसे रह सकता है? जो मनुष्य सर्प के जाति-स्वभाव को नहीं जानता, वह उसके डसने से कैसे बच सकता है? जो जहर के गुण को नहीं जानता, वह अवश्य ही धोखा खा जाता है। इसी प्रकार जो हिंसा के स्वरूप को नही जानता, वह उससे बच नही सकता।

हिंसा से बचने वाले प्राणी की आत्मा मे पूर्व जागृति उत्पन्न होती है। हिंसा से बचना दयावान का खास लक्षण है।

सब प्राणियोने अपनी-अपनी रक्षा के लिये, खाने के लिये, दाढ व दात, देखने के लिये नेत्र, सुनने के लिये कान, सूंघने के लिये नाक, चखने के लिये जीभ आदि अग-उपांग

अपनें पूर्व कर्म के अनुसार प्राप्त किये हैं। इनको छीन लेनें का मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। जो मनुष्य, मक्खी के पख को भी नहीं बना सकता, उसे उसको नष्ट करने का क्या अधिकार है ? परन्तु स्वार्थ ऐसी चीज है कि उसकी ओट में कुछ भी नहीं दीखता। जो अंग-उपांग उस प्राणी के लिए उपयोगी हैं, मनुष्य कहा करते हैं कि यह तो हमारे लिए पैदा किया गया है। ऐसा कहने वालों से सिंह यदि मनुष्य की भाषा में कहे कि तू मेरे खाने के लिए पैदा किया गया है तो वह मनुष्य उसे क्या जबाब देगा।

स्वार्थ के कारण अज्ञानी मनुष्य अपने अज्ञान से यद्वातद्वा ऐसी हिंसा का समर्थन कर देते हैं लेकिन ज्ञानी-पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। वे सब प्राणियों को सुख का अभिलाषी समझते हैं, किसी प्राणी को हिंसा करने का अधिकारी नहीं समझते।

जो दूसरे के हाड लेता है, क्या उसके हाड़ बचे रहेंगे ? कभी नष्ट न होंगे ?

'होंगे।'

जो दूसरे के मांस को हरण करेगा, क्या उसके मांस का कभी नाश न होगा ?

'होगा।'

जो दूसरों का चमडा उतारता है, क्या उसका चमडा नष्ट न होगा ?

'होगा, अवश्य होगा।'

जो प्राणी जिस जीव की हिंसा करता है, उसे उसका बदला अवश्य ही चुकाना पड़ेगा। इसलिये ज्ञानी कभी हिंसा नहीं करते। जो अज्ञान से हिंसा करते हैं, उन्हें योग्य उपदेश देकर वे छुडाने का प्रयत्न करते हैं।

पहले आप लोग, आत्मा के स्वरूप को अच्छी तौर से समझें। समझने के बाद ही आप कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान बिना, भक्ष्याभक्ष्य का भी कैसे ख्याल रह सकता है?

कई भाई कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होने से ही, अभक्ष्य जैसे–मांस और अपेय जैसे शराब आदि का उपयोग करते हैं। बीडी सिगरेट, चुरुट आदि भी इसी कर्तव्याकर्तय के अज्ञान से लोग काम में लाते है। मांस और शराब आदि खाने पीने में पाप तो हैं ही पर साथ में यह अस्वाभाविक भी है।

मैंने एक पादरी की लिखी पुस्तक में पढा था कि हिन्दू लोगों से हम (ईसाई) विशेष दया रखने वाले हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार गेहूं आदि पदार्थों मे बहुत जीव हैं। हिन्दू लोग गेहूं को पिसा कर खाते हैं। इसमें कितनी हिंसा होती है? एक बात और भी है। जब गेहूं आदि की खेती की जाती है, तब भी पानी के, मिट्टी के और न जाने कौन–कौन से हजारो जीवो की हत्या होती है, तब कहीं जाकर वे (हिन्दू) अपना पेट भरने में समर्थ होते है। इस पर भी वे अपने को अहिंसक मानते हैं। हम (ईसाई) लोग सिर्फ बकरे को मारते हैं, इसमे एक से भी अधिक का पेट भर जाता है। इसलिए हिंसा बहुत कम होती है!

पादरी ने अपनी पुस्तक में, जो इस प्रकार लिखा है, इसका उत्तर यह है कि—जो पादरी अपने को कम और हिन्दुओं को विशेष रूप से हिंसक मानता है, वह अनजान और भोले लोगों की आंखों में धूल झोंकने का काम करता है। वह इस दलील से हिन्दुओं के प्रति घृणा प्रकट करवाना चाहता हैं और चाहता है कि इस दलील के सुनने से लोगों पर हमारी छाप पड जायगी और ईसू के चरणों मे बहुत से लोग सर झुका देंगे। इस पादरी भाई का यह ख्याल बिल्कुल गलत है। उसे समझ लेना चाहिये कि मैं जो दलील पेश करता हूं' अहिंसा के सच्चे अर्थ या मर्म जानने वालि के सामने कपूर की तरह उड जायगी।

मोचिये कि यदि गेहूं खेती से पैदा होते हैं तो क्या बकरा आसमान मे टपक पड़ा है ?

'नहीं।'

उसका जन्म रज और वीर्य के मिश्रण से, किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। गेहूं आदि की बुनियाद आबी 'जलीय' और बकरे की बुनियाद पेशाबी है। गेहूं अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा स्पष्ट जग-जाहिर जीव है। गेहूं पैदा करने वाले को नीयत किसी को मारने की नहीं होती है। कुदरत के कानून से मर जाय, यह दूसरी बात है। जिन गेहूं आदि अनाज में ज्यादा पाप बतलाते हैं, उन्हीं गेहूं के दाने तथा जल, सब्जी आदि से बकरे का पालन होता है। बकरे को मारने वाले के परिणाम, प्रत्यक्ष क्रूर और घातक होते हैं; परन्तु गेहू पीसने वाले के वैसे नही होते।

गेहूं आदि अनाज, दूसरी खुराक न होने से विवश हो, प्राण रक्षा के लिए खाते हैं। परन्तु बकरे की तो अन्न मौजूद होते हुये भी, मांस खाने वाले शैतानी विचार रखने वाले और स्वाद के लोलुप मनुष्य, अस्वाभाविक रीति से हिंसा कर डालते हैं। बकरे की अनाज के दाने से विवेक-पूर्वक तुलना न करना, यह पादरी साहब की अज्ञानता के अतिरिक्त और क्या है ?

एक बड़ी बात इसमें और भी रहा हुई है। क्या धान आदि के द्वारा पेट भरने वाले का उतना क्रूर स्वभाव हो सकता है, जितना मांस खाने वाले का होता है ? यदि नहीं, तो मांस खाने वाले के गुण और धान खाने वाले के अवगुण कैसे गाये जाते है, कुछ समझ में नही आता।

मैंने ऊपर कहा था कि मास खाने मे पाप तो है ही, पर वह मनुष्य के लिये अस्वाभाविक भी है। यदि स्वाभाविक हो तो बिना शराब व मास के एक मनुष्य भी जी नही सकता था। स्वाभाविक उसे कहते हैं, जिसके बिना जीवन निर्वाह ही न हो सके, जैसे पानी के बिना प्राणी नहीं जी सकता। पर हम देखते हैं कि शराब के बिना आज करोड़ो की सख्या मे लोग जी रहे हैं। ऐसे ही मास खाये बिना भी करोड़ो मनुष्य जीवित दिखाई देते हैं।

शराब के कारण, कई राजाओ का खून हुआ है और कई शराबियो ने शराब के नशे मे अपनी मां-बहिनो के साथ कुकृत्य किया है, ऐसा सुनने में आया है। सच बात तो यह है कि शराब पीने पर दिल पर ऐसा नीच असर

होता है कि भले-बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहता । यही क्यों, आप चुरुट को ही लीजिये । एक अंग्रेज को चुरुट पीने का बड़ा शौक था । एक दिन उसे चुरुट के जोर से खूब नशा चढ़ आया । उसकी औरत सोई हुई थी, छुरे से उसे मारना चाहा पर थोड़ी देर मे नशा उतर जाने के बाद इस नीच विचार को वह धिक्कार देन लगा । थोड़ी देर पीछे फिर उसने चुरुट पिया । इस बार उसने अपनी स्त्री को छुरे से मारने का कुकृत्य कर ही डाला । चुरुट पीने से जब इतना पतन हो जाता है, तब शराब से कितना होगा ? इसका विचार आप ही कीजिए । शराब पीने वालों के हाथ से हजारों खून हुए हैं ।

जिस अमेरिका को आप अनार्य देश कहते हैं, वहा वालो ने शराब का बहिष्कार कर दिया है । पर आपके आर्य देश में इसकी दिन-ब-दिन वढ़ती हो रही है, इसका क्या कारण है ?

शराव और मास का ओसवाल जाति ने त्याग किया है, पर सुनते है कि कई कौम के दुश्मन, ओसवाल नाम धरा कर छुपी रीति से उसका उपयोग करते हैं । जाति वालो की तरफ से इस कृत्य की रोक का जैसा प्रबन्ध होना चाहिये, वैसा नही होता ।

शराव और मास ने कई दैवी-प्रकृति वालो को राक्षसी-प्रकृति वाले बना दिये हैं और उनके सुखमय जीवन को दु:ख मे परिणत कर दिया है । जिस घर मे शराब-पान का रिवाज है, जरा उस घर की दशा तो देखिये । स्त्रियां

बच्चे टुकड़े-टुकडे के लिए हाय-हाय करते हैं, पर वह शराब का शौकीन शराब के नशे में झूमता है । उसके धन का, शक्ति का और समय का नाश होता है, जिसका उसे कुछ भी पता नही ।

मास खाना अस्वाभाविक है, यह मैं पहले कह चुका हू । मास खाना अच्छा है या बुरा, इसकी परीक्षा पाश्चात्य देश मे दस हजार विद्यार्थियों पर की गई थी । पाच हजार विद्यार्थियो को केवल शाकाहार फल–फूल, अन्न आदि पर और पांच हजार विद्यार्थियो को मासाहार पर रखा गया । ६ महिने बाद जाच करने पर मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मासाहार पर रखे गये थे, उनकी बनिस्बत शाकाहार वाले सब बातो मे तेज रहे । शाकाहारियो मे दया, क्षमा, वीरता आदि गुण प्रकट हुए और मासाहारियो मे क्रोध क्रूरता, भीरुता आदि । मासाहारियों से शाकाहारियो मे बल विशेष पाया गया । इनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ । इस फल को देख कर वहां के लाखो मनुष्यो ने मांस खाना सदैव के लिये छोड दिया ।

गाधीजी, जिस समय विलायत के एक शहर में एक भारतीय महन्त के घर निमन्त्रित हुए, तो वहा क्या देखते हैं कि १७ यूरोपियन शाकाहारी थे और केवल २ भारतीय शाकाहारी थे । यद्यपि कुल भारतीयो की सख्या, यूरोपियनो से किसी प्रकार कम न थी ।

मांसाहार, मनुष्यो के लिए स्वाभाविक है या अस्वाभाविक, इसकी जो जाच हुई, उसका नतीजा आपने सुना ।

एक और भी जांच है । यह पांच पशुओ पर से होती है, क्योंकि मनुष्यो ने अपनी बुद्धि का विकास किया है, इसलिए उन्होने अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक मान लिया है । कई वकील लोग बेईमानी को जितना सच्चारूप दे सकते हैं, उतना भोला-भाला मनुष्य नही दे सकता । पशु-पक्षी पढे हुए नही हैं, इसलिए प्रकृति के कानूनो को तोड़ने की हिम्मत इनमें नही है । प्रकृति के कानूनो की परीक्षा इन पर बड़ी अच्छी रीति से हो सकती है ।

पशुओ में दो पार्टियां है—एक मांसाहारी पार्टी और दूसरी शाकाहारी (घास पार्टी) । मासाहारी पशुओ के नाखून पैने होते है, जैसे—कुत्ता, बिल्ली, सिह आदि के । और घास-पार्टी वाले पशुओ के पैने नही होते, जैसे—हाथी, गाय, भैस, ऊट आदि के । घास-पार्टी वाले पशु मनुष्यो के मित्र-रूप हैं । वे घास खाकर दूध देते हैं, पर कुत्ता मांस-भक्षी होने के साथ ही रोटी भी खाता है और काटने से भी नही चूकता । मतलब यह है कि घास-पार्टी वाले शात होते हैं और मांस-पार्टी वाले क्रूर ।

खाने-पीने का असर शरीर और मन पर जरूर पड़ता है । यह बात गीता से भी सिद्ध है । उसमें १७ वें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस भोजन का विशद वर्णन किया गया है ।

अच्छा, अब मैं मांसाहारियो की दूसरी पहिचान बतलाता हू । मांसाहारी पशुओ के जबड़े लम्बे होते हैं और घास-पार्टी वालो के गोल । गाय और कुत्ते के जबड़े देखने से यह भेद साफ मालूम होगा ।

मांसाहारियों की तीसरी परीक्षा यह है कि वे जीभ से चप-चप कर पानी पीते हैं और शाकाहारी ओठ टेक कर। गाय, भैंस, बन्दर तथा सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि को देखने से यह भेद मालूम हो जायगा।

ऊपर की परीक्षा की कसौटी पर कसने से निर्विरोध सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य प्राणी मासाहारी नहीं है। कई विद्वान् डॉक्टरों ने भी यह सिद्ध कर बतलाया है कि घास खाने वाले, मांस खाने वाले और अन्न खाने वाल प्राणियों की आंतें एक सी नहीं होतीं। बन्दर के शरीर मे, मांस को पचाने वाली आंतें नहीं हैं, इसलिए वह कभी मांस नहीं खाता, फल चट उठा कर खा जाता है। जरा विचार कीजिये कि जो मनुष्य की शक्ल का प्राणी (बन्दर) है, वह तो मांस नहीं खाता पर मनुष्य कहलाने वाला मास खाता है!

जरा पक्षियों की तरफ देखिये। आपने कबूतर को कभी कीड़ा खाते देखा है?

'नहीं।'

और कौए को?

'हां।'

क्या आप जानते है कि कबूतर और कौए को यह पाठ किसने पढाया?

'प्रकृति ने।'

आपने कभी तोते को मास खाते देखा है ?

'नहीं ।'

वह आपकी भाषा सिखाने से सीख सकता है । जो मनुष्य की भाषा सीखे—वह तो मांस नहीं खाता, पर जिसकी अपनी भाषा है, वह मनुष्य मांस खाय, यह कितनी लज्जा की बात है ?

अरे मनुष्य ! तू तकदीर लेकर आया है । जरा तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति के कानून को मत तोड । क्या मास न खाने वाले भूखो मरते है ?

हम देखते है कि जितने मांसाहारी भूखों मरते है, उतने शाकाहारी भूखो नही मरते । व्यवहार-दृष्टि से शाकाहारी हर प्रकार मे प्रकृति से सुखी और मांसाहारी दुःखी दिखाई देते है ।

मुझे विश्वास है कि वहुत से उच्चकोटि के मनुष्य मांस का सेवन नहीं करते । ऊपर जो विवेचन किया गया है, वह इसलिए कि मास के गुण दोष को अच्छी तरह समझ जायं और उसके सेवन करने वाले भाइयों को सच्चा मार्ग दिखा सकें ।

यद्यपि आप मांस-सेवी नही हैं, तथापि अहिंसावादी और 'अहिसा परमो धर्मः' के अन्दर विश्वास रखने वाले को कहा जाता है कि त्रस जीव की हिसा के द्वारा होने वाले किसी भी काम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता देना उचित नहीं है । मैं चाहता हूं कि जिन चीजो के लिये त्रस

जीवों की हिंसा होती है उनको भी आप पाप-पूर्ण समझ कर त्याग दें।

विदेशी शक्कर आदि

कई चीजें आज बाजारों में ऐसी बिकती दिखाई देती हैं, जो ऊपर से चमकती हुई सुन्दर और साफ हैं पर उनकी बनावट में महाहिंसा तथा घृणित वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। आपने विलायती शक्कर देखी होगी। सुना जाता है कि कई भाई आजकल मिठाई बनाने में इसका खूब उपयोग करते हैं। उनका कहना है कि उसमें मैल कम होता है और देशी शक्कर को बनिस्पत कुछ सस्ती भी मिलती है। हाय! हाय! जो भाई एक चींटी के मारने में पाप समझते हैं, वे ही अज्ञान से कुछ लाभ के लिये धर्म तथा देश को पतन के गहरे गह्वर में डाल देते हैं। माना कि यह दिखने में साफ और कीमत मे सस्ती है, पर क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि यह कैमे घृणित प्रकार मे बनाई जाती है[1] तथा इसके खाने से शरीर को क्या हानि है?

भारत में जो शक्कर बनाई जाती है, उसके लिए भी आरम्भ होता है, पर विदेश जितना घोर पाप नहीं। भारत में बनाई जाने वाली शक्कर मे, एकेन्द्रिय आदि प्राणियो

(१) 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' नाम का एक बहुत वर्षों की शोध के बाद तैयार हुआ ग्रन्थ है, जिसके आधार पर सरकार फैसला करती है। उसके ६६७ वे पृष्ठ पर लिखा है कि—

की हिंसा होती है पर पंचेन्द्रियों-गौ आदि — जिन्हें आप माता के नाम से पुकारते हैं-की नहीं ।

हमारी राय में तो शक्कर देशी हो या विदेशी, न खाना ही अधिक लाभकर है क्योंकि ज्यादा शक्कर खाने से

'शक्कर साफ करते समय हरेक जानवर का रक्त (खून) तथा हड्डियो के कोयले का चूरा डाला जाता है ।

(२) 'डिक्सनरी ऑफ आर्ट्स' छठी आवृत्ति लन्दन पृष्ठ ८२६ में लिखा है कि—'गांगडे वनाये जाते हैं, उस समय ५४ मन शक्कर मे २७ मन हड्डियो के कोयले का चूरा डाला जाता है ।

(३) स्वामी भास्करानन्द लिखते हैं – कि जब मैं विलायत गया तब मैंने कितने ही शक्कर वनाने के कारखाने देखे । उनके पहले खण्ड (मंजिल) मे पहुंचते ही, मुझे उल्टी होगी, ऐसा मालूम हुआ । मैं नहीं जानता था कि ऐसी अपवित्र चीजो से शक्कर वनती है । पर नजरों से देखने पर सखेद आश्चर्य होता है कि जिन चीजो के स्पर्श से भी महान् पाप लगता है, उन्हें ही हिन्दू लोग किस प्रकार खाते हैं ?"

(४) 'भारतमित्र' ता० २८–१०–१६५० के अङ्क में लिखा है—'अच्छी शक्कर वनाने के लिये जिस प्रकार इस देश में दूध काम में आता है, उसी प्रकार वहां (विलायत में) जानवरों के लोहू मे शक्कर (खाड) का मैल काटा जाता है । कारण, कसाईखानों में दूध के वनिस्पत लोहू सस्ता मिलता है ।"

(५) मि० हेरिस कहते हैं—'खाड' सूअर के लोहू से साफ की जाती है ।

शरीर में रोगो की उत्पत्ति होती है और ब्रह्मचर्य आदि की रक्षा मे बाधा पहुचती है । जिससे शक्कर के बिना न रहा जाता हो उसे कम से कम इतना तो चाहिए कि विलायती भ्रष्ट शक्कर का उपयोग न करे ।

शक्कर जिन्दगी भर न खाई जाय तो कोई क्षति नहीं होती परन्तु रोटी के बिना काम नही चल सकता । तब बतलाइये, प्राकृतिक यानी शरीर को लाभ पहुचाने वाली, इन दोनो चीजो मे से कौन हुई ?

बादशाह अकबर जैसे मुगल के राज्य मे ३ से ४ रु० मन तक घी मिलता था। एक रु० का सात सेर घी मिलने की बात तो आज भी आप अपने बूढ़-बडेरो से पूछ सकते हैं । उस समय के लोग आज की तरह चाय की मेहमानी नही करते थे । उस समय हिन्दुस्तान मे आज की तरह चाय का प्रचार नही था । सुना है कि यहां चाय का विशेष प्रचार लार्ड कर्जन के जमाने से हुआ है । चाय शरीर के लिये हानिकारक और बड़ी ही अपवित्र वस्तु है । चाय, अनेक गरीब लोगो की अश्रुधारा से सीची जाती है ! यह आपको अभी मालूम नही पड़ सकता, पर जब इस पर विशेष विचार करने का मौका होगा, तब आपको मालूम पड़ेगा कि किस प्रकार बहनो और बच्चो की हाय-हाय और त्राहि-त्राहि से यह चाय बढ़ाई जाती है। किस प्रकार गरीबो का पसीना और खून एक होता है ! ये भाई—बहन और बच्चे और कोई नहीं, आपके भारतीय ही हैं । इन बेचारो को चाय के खेतो मे निर्दय अंग्रेज व्यापारियो के द्वारा सदैव मार सहना पड़ती है । क्या ऐसी पापमय चाय का पान

करना आप ठीक समझेगे ? चाय की वजह से आज हिन्दुस्तान मे खांड की ज्यादा माग बढ गई है । लोग यदि इस हानिकारक चाय को छोड़ दें तो विश्वास है कि आपको विदेशी अपवित्र खाड मगानी ही न पडे ।

पहले के लोग, खांड के ज्यादा शौकीन नहीं थे । खाड की मिठाइया भी इतनी नही बनती थी । लोग ज्यादातर गुड की 'लापसी' से ही अपना काम निकालते थे । भारत के लोगो मे ज्यो-ज्यो ऐश-आरामी की वृत्ति बढ़ती गई, त्यो-त्यो हरेक आदमी विलायती चीजो को ही पसन्द करने लगा । पहले के लोगो का सिद्धान्त था—'मोटा खाना, मोटा पहिनना ।' पर आज 'पतला खाना और पतला पहिनना' हो गया है ! कहां है वह बच्चो की सुन्दर हास्यमयी माधुरी और कहा है वह जवानो का जोश ?

आपका यह ऐश–आराम बडा खतरनाक है । यह न केवल इहलोक मे, परन्तु परलोक मे भी दु.ख देने वाला है । इहलोक मे तो यो है कि इसके प्रताप से आप दिन–दिन शक्तिहीन हो रह हैं और शौक का चाजे करीब–करीब तमाम ही विदेश से आने से दरिद्री भी । परलोक मे यों कि शौक करने की जितनी भी चीजें आज दिखाई देती हैं, वे प्रायः महापाप से बनती है ।

शौक की चीजो मे सबसे पहला नम्बर कपड़े का है । आजकल बहुत–सा कपडा विलायत से आता है[1] । यह दीखने मे चटकीला–मटकीला और सुन्दर होता है, पर कई

१. जिस समय यह पुस्तक लिखी गई, उस समय आता था ।

विद्वान् अंग्रेजो ने अपनी पुस्तको मे लिखा है कि इसके बनाने मे चर्बी आदि काम मे लाई जाती है। सुना गया है कि चर्बी योग्य परिमाण मे सीधी न मिल सकने के कारण, क़साईखानों में सैकड़ो मूक गरीब प्राणियो का बेरहमी के साथ नित्य कत्ल होता है। यह कत्ल केवल आप लोगो के लिए चल रहा है। यदि आप अपनी मौज-शौक कम कर दें तो यह होने वाला भयंकर हत्याकाण्ड शीघ्र कम हो सकता है।

मेरा यह कटाक्ष, न केवल विदेशी वस्त्रो की ही तरफ है, पर उन वस्त्रो की तरफ भी समझिये, जो भारत की मिलो मे तैयार होते हुए भी चर्बी आदि से बचे हुए नही हैं।

जरा विचार तो कीजिये कि आप किसकी सन्तान हैं, आप उन वीर क्षत्रियो की सन्तान हैं, जिन्होने दूसरो की रक्षा के लिये अपने शरीर का मास काट कर दे दिया था। पर उस शरणागत का एक बाल भी बाका न होने दिया। आप लोग उस का नाम जानते हैं ? उस वीर का नाम था राजा मेघरथ।

एक दिन की बात है, राजा मेघरथ अपने धर्मस्थान मे बैठे हुए थे। एक भयभ्रान्त' कबूतर उडता हुआ उनकी गोद मे आ गिरा। बोला—'राजन्! मैं आपकी शरण हू, मेरी रक्षा कीजिये।' राजा ने आश्वासन देते हुए कहा—'तुम जरा भी मत डरो,मैं तुम्हारी हर प्रकार से रक्षा करूंगा।'

इतने मे एक शिकारी (पारधी) दौड़ता हुआ आया। वह लगोट पहिने हुए था उसका शरीर काला, ओठ मोटे,

केश बिखरे हुए और आंखें लाल थीं। वह बोला—'राजा, मेरा शिकार दे।' राजा ने शान्ति से कहा—भाई, मैं इसे नहीं दे सकता। यह मेरी शरण में आ गया है।'

शिकारी—बस बस, मेरा शिकार फेंक दो ! नहीं तो ठीक न होगा।

आजकल के सरीखा कोई राजा होता तो उसे धक्के देकर उसी वक्त निकलवा देता, पर मेघरथ राजा ऐसा न था। वह दुष्टों पर भी दया करने वाला और क्रूरों को भी सुधारने वाला था। राजा ने उससे पूछा—'भाई ! इसका क्या करोगे ?'

शिकारी 'क्या करूंगा ? अपना दुख मिटाऊंगा, मुझे भूख लग रही है।'

राजा—भूख लग रही है तो तुझे खाने को देता हूं, चाहे सो वि ले।'

शिकारी—क्या तू मुझे धर्म का देना चाहता है ? मैं धर्म का नहीं लेता, मैं अपने उद्योग से अपना पेट भरता हूं।'

राजा—'बहुत अच्छा, सशक्त गृहस्थ को भीख तो लेनी ही नहीं चाहिये। मैं तुझे भीख नहीं, पर चीज लेकर चीज देता हूं। मुझे यह कबूतर पसन्द आ गया। मैं इसके बदले में तू मागे सो देने को तैयार हूं।

शिकारी 'ऐसा ? अच्छा, जो मांगूंगा, वह देगा ?'

राजा—'बराबर।'

शिकारी—'देखना, अपनी जबान से फिर मत जाना। मैं ऐसी-वैसी चीज मांगने वाला नहीं हूं, या मुझे अपना शिकार दे दे।'

राजा 'कबूतर को छोडकर, चाहे सो मांग ले, सब कुछ देने को तैयार हूं।'

शिकारी—अच्छा, तो मुझे इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मास दे दे।'

मित्रो! राजा मेघरथ अपने शरीर को नाशवान् समझकर इस बात को कबूल करते हैं और अपने शरीर का मास काटकर दे देते हैं।

कई जगह इस कथा में आये हुए पारधी के स्थान पर बाज का भी वर्णन पाया जाता है।

जिनके पूर्वज एक प्राणी की रक्षा के लिये अपने शरीर का मास काट कर देना कबूल कर लेते हैं, पर प्राणी की हिंसा नहीं होने देते, अब उन्हीं की सन्तान, अपने तुच्छ मौज शौक के लिये हजारों प्राणियों के नाश को देखकर भी हृदय में दया न लावे, तो उसे क्या कहना चाहिये?

आपके पूर्वज, बिना चर्बी का, देश का बना हुआ कपड़ा पहनते थे, जिसे आज के लोग, 'खादी' के नाम से पुकारते हैं। खादी के उपयोग से न केवल पैसे की ही बचत होती

है, पर धर्म भी बचता है। विलायती कपड़ों का जब इस देश में प्रचार नहीं था, तब लाखों मनुष्य इसी धन्धे के द्वारा अपना पेट भर लेते थे। इतिहास कहता है कि बाद में अंग्रेजों ने उन बिचारे गरीबो के अंगूठे कटवा दिये और अपने देश (विलायत) के वस्त्रो का यहां प्रचार बढा दिया। मिल भी यहा खड़े हो गये। इन मिलों मे मनुष्य की कम क्षति नही हुई। सैकडो मनुष्यों की रोटी पर कुछ मनुष्य ही हाथ साफ करने लगे और बाकी के भूखों मरने लगे। देश का सौभाग्य समझिये कि देश के कई हितैषियो और नेताओ ने इस भयंकर अत्याचार को पहचाना और चर्खे का पुनर्निर्माण किया। चर्खे के द्वारा आज फिर से सैकड़ों भाई-बहनो को रोटी हाथ आने लग गई है। जो भाई खादी का उपयोग करता है, वह गुप्त रीति से इन गरीब भाई-बहनो को मदद महुचा कर पुण्योपार्जन करता है, ऐसा आज के नेता स्पष्ट समझाते हैं। उनका कथन है कि खादी सादी और देश को आजादी है।

जो देश वस्त्र और रोटी के लिए दूसरे का मुंह नहीं ताकता, वह कभी पराधीन नही हो सकता। जो इन दो बातो के लिये दूसरो की तरफ देखता है, वह गुलाम बने बिना नही रह सकता। यह देश वस्त्र से तो गुलाम बन ही चुका, अब रोटी के लिये भी दूसरो के पास हाथ पसारने लग गया है। रोटी से आप अपने घर की जैसी रोटी की ही बात न समझ लेना। रोटी से यहां खान-पान की चीजो से मतलब है। बिस्कुट विलायत से आते है, आपके कई देश-भाई मजे से खाते हैं। यह रोटी की पराधीनता नही तो और क्या है? सुनते हैं, देश मे वेजिटेबिल' नाम का

नकली घी (!) तो फैला ही था. अब एक प्रकार की लकड़ी का आटा भी आने लगाया है।

ये बिस्कुट, यह घी और यह आटा आपके शरीर का कितना नाश करने वाले हैं ? बिस्कुट आदि खाद्य–पदार्थ, किस प्रकार सडा कर बनाये जाते हैं और आप लोग उनके डिब्बो पर के चटकीले, सुन्दर, मनमोहक लेबिल देखकर किस प्रकार खरीद कर पेट मे रख लेते हैं ?

पहले के लोग देशी सादी जूतियां पहनते थे, पर अब आप में से अधिकांश लोग विलायती बूटो का उपयोग करना ज्यादा पसन्द करते हैं। देशी जूती प्रायः मृत्यु से मरे हुए जानवरो के चमडे से बनती है, पर विलायती बूटो के लिये सैकडों पशुओं का कत्ल किया जाता है। चमडा, जितना मोटा और मुलायम हो, उतना ही वह अच्छा गिना जाता है। इसके लिये हत्यारे लोग पशुओ को पहले खरीद लेते है। बाद में कई दिनों तक भूखे रखकर उनकी चर्बी गला देते हैं। फिर लठ्ठों की मार से वे इस बुरी तरह से मारते हैं कि उनका सारा शरीर रोटी की तरह फूल जाता है। अन्त मे ये हत्यारे कत्ल करने की मशीनो के आगे हरा-हरा कोमल घास डालते हैं। बेचारे अनेक दिन के भूखे-प्यासे अबोध पशु अपने पेट की तीव्र ज्वाला मिटाने के लिये ज्यो ही खाने के लिये उसमें मुह डालते है, त्यो ही मशीन की मोटी और चमकती हुई तेज छुरी, कररर करती हुई उनकी गर्दनो पर बेरहमी से गिर कर उनके सिर को धड से अलग कर देती है। छटपटाते हुये उन पशुओ के शरीर, उनमे से निकलती हुई खून की अनेक तेज धारायें और नाचती हुई

उनकी पुतलियां देख कर उस समय किसका हृदय करुणा से न उभरेगा ? कौन उस वीभत्स-दृश्य को देख रोमांचित न होगा ? और कौन कठोर-हृदय उस अवसर न रो पड़ेगा ? क्या मौज-शौक के तुच्छ सुख के लिये ऐसे भयानक हत्या-कांड का भागी बनना योग्य है ? यदि नही, तो आप सिर्फ बूट ही नही, पर ऐसे भयानक हत्याकांड जिस वस्तु के बनाने के लिये किये जाते हों, उन सब का त्याग कर दीजिये ।

क्या आप जानते हैं कि दया-देवी का मन्दिर कहां है ? दया-माता यदि हृदय मे होती तो आपको दया के उपदेश देने की जरूरत ही न पडती । हृदय में दया हो तो ऐसी हालत मे 'दया-दया' पुकारने की जरूरत पड सकती है ?

'नही ।'

'जिसके शरीर में चैतन्य है, उसे फिर कोई जलायगा ?'

'नहीं ।'

क्या चैतन्य छिपा रह सकता है ?

'नहीं ।'

जिस प्रकार आप लोग धर्म की स्थूल-क्रिया करने के लिये यहा आये हैं, उसी प्रकार दया का स्थूल-रूप बाहर दिखलाइये, तब मालूम पड़े कि आप मे दया है ।

'दया' शब्द दय्-रक्षणे धातु से बना है । इसका अर्थ दूसरो पर अनुकम्पा (करुणा) लाना है ।

आपको दया कहां करनी चाहिये ? क्या केवल मेरे पास आकर ? नहीं, मेरे पास तो आप करते ही हैं, दया का उपयोग वहां कीजिये, जहा बेकसूर मूक प्राणी छुरी के घाट उतार दिये जाते हैं, उनके गले पर खटाखट खन्जर चला दिया जाता है, उन बेचारो के खून का छोटा सा नाला बह निकलता है ! किसी को दया का पूरा दृश्य देखना हो तो जहां दया पैदा होती है, उस कत्लखाने के समान दुःख और कहां दिखेगा ?

यूरोपियन सज्जन टालसटाय, एक बड़े विद्वान् और विचारशील पुरुप माने गये हैं। ये कोरे विद्वान् ही नहीं थे। पर उन्होने अपने जीवन को इतना उच्च बना लिया था कि एक आदर्श पुरुष भी माने जाते हैं। उनका जीवन दृढ़-प्रतिज्ञ था। उनके जीवन का एक एक दिन ऐसा बीतता था कि उसकी छाप दूसरे मनुष्य पर पड़े बिना न रहती थी। इनका इतना धर्ममय जीवन कसाईखाने को देखकर ही हुआ था। कहा जाता है कि ये हमेशा कसाईखाने में पशुवध देखने जाते। वहा पशुओ के ऊपर छुरी चलने पर, उनकी तड़फड़ाहट देखकर, रोमाञ्चित हो जाते, घवड़ा जाते और विचार करते कि हाय ! यदि इसी प्रकार यह छुरी हमारे ऊपर चले तो हमे कितना दुःख हो ? हम कितने छटपटाए ? ये विचारे मूक प्राणी स्वतन्त्र नहीं हैं, इन परतन्त्रता की जंजीरो से जकड़े हुओं को छुड़ाने वाला कौन है ? ये विचारे परतन्त्र है, पर मारने वाला भी कौनसा स्वतन्त्र है ? वह भी परतन्त्र हैं। यदि परतन्त्र न होता तो उसे यह पापमय काम ही क्यो करना पड़ता ? किसके परतन्त्र है ? इसको किसनें गुलाम बना रखा है ? उत्तर मिलता है—तृष्णा, लोभ, मोह और अज्ञान आदि का यह दास है। वह मोह

से रागान्ध मनुष्य उसके प्राण लेकर अपना काम बनाना चाहता है। वह उसका मांस खाकर अपना मास बढाना चाहता है, उसको मारकर अपना पोषण करना चाहता है। उसके प्राणो की इसे तनिक भी परवाह नही। उसके दु.ख से कुछ भी करुणा नही आती। पर इसे विचारना चाहिये कि यदि ऐसा हो समय मेरे लिये आयेगा तो मेरा क्या हाल होगा ?

मनुष्य उस प्राणी को किस कसूर से मारता है ? किस गुन्ह से वह मारा जाता है ? क्या उसने गाली दी है, या उसने कुछ हरण किया है ? ये वेचारे तमाम भद्र प्राणी हैं। इनमे से बहुत से तो घास खाकर तुम्हारा रक्षण कर रहे हैं। ये प्रकृति की शोभा बढाने वाले हैं। इनको मार कर लोग अपना काम निकालते हैं तथा खाने मे मजा मानते हैं। इन मनुष्यो की मजा मे उन विचारो की कजा होती है।। इस कजा मे मजा मानने वालो का कुछ हिसाब होता है ?

'हा।'

शास्त्र की वात इस समय कुछ न कह कर पाश्चात्यों का इस विपय पर क्या मत है, वैज्ञानिको ने इस पर क्या राय जाहिर की है, यह सुनिये। वे कहते है कि प्रकृति की वस्तुओ मे गति की प्रतिगति और आघात का प्रत्याघात होता ही रहता है। उदाहरण स्वरूप एक पर्वत के पास जाकर आवाज दी गई कि 'तुम्हारा वाप चोर।' तो उससे प्रतिध्वनि निकलेगी—'तुम्हारा वाप चोर।' जैसी ध्वनि की

जायगी, वैसी ही प्रतिध्वनि निकलेगी। अगर कोई अपने बाप को चोर कहलाना चाहे, तो उसे कहे कि 'तुम्हारा बाप चोर।' यदि न चाहे तो न कहे। जिस प्रकार प्रतिध्वनि ने 'तुम्हारा बाप चोर' कहा, इससे तुम्हे दुःख होता है, ऐसा समझकर कभी किसी को कटु शब्द न कहना चाहिए। मंगल से मगल और अमंगल से अमगल होता है। गति की प्रगति और आघात का प्रत्याघात होता रहता है। जो पार्ट आज दूसरो से करवाते हो,वही पार्ट कभी तुम्हे भी करना पड़ेगा। साराश यह कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे, तो तुम्हे कष्ट मिलेगा। तुम किसी के प्राण लोगे तो तुम्हे भी प्राण देने पड़ेंगे। शस्त्र से गर्दन उड़ाओगे तो वापस तुम्हारी गर्दन उड़ेगी। मास खाओगे, तो अपने शरीर का मांस खिलाना पड़ेगा।

हां, एक बात जरूर है। जीवन-निर्वाह के लिए प्रकृति की शोभा न बिगड़े, इसको ध्यान मे रखकर सरलता से बिना किसी को दुःख दिये, अपने निर्वाह का जो आयोजन किया जाता है, उसे अधर्म नही कह सकते। धर्म किसी का नाश नही चाहता। जो मनुष्य नीति से पैसा पैदा करता है, उसे कोई चोर-बदमाश कह कर दण्ड नहीं देता है, पर जो नीति-अनीति का कुछ भी ख्याल न कर, केवल पैसो से अपनी जेब भरना चाहता है, उसे कोई क्या कहेगा ?

'चोर, बदमाश आदि।'

'उसे दण्ड मिलेगा ?'

'अवश्य।'

यही बात अपने निर्वाह-कार्य के लिए समझनी चाहिये। जो अपनी मौज-शौक के फितूर में आकर मूक प्राणियो का वध करता है, उसे भी दण्ड मिले बिना न रहेगा।

माता के स्तन से बालक दूध पीता है। यह उसका स्वाभाविक धर्म है, पर जो बालक माता के दूध की जगह स्तन का खून पीना चाहता है, क्या उसे कोई बालक या पुत्र कहेगा? लोग उस बालक को, बालक या पुत्र नही; पर जहरीला कीड़ा कहेगे।

यह प्रकृति गौ, भैंस, बकरी आदि से दूध पिलाती है। जगत का इससे बड़ा उपकार होता है, पर लोगो की गजब ताकीद इन उपकारी पशुओ का जल्दी खातमा करके एक-दो दिन पेट भर कर ज्यादा दिन तक पेट भरने वाले घी दूध के स्रोत को बन्द कर देती है। इसका मतलब यह हुआ कि फलो को धीरे-धीरे आते देखकर एकदम पाने के विचार से वृक्ष का मूलोच्छेदन कर दिया गया।

इन बेचारे मूक प्राणियो की वकालत कौन करे? गजब की बात है कि साक्षात् इनकी करुणाभरी चीख को सुन कर भी हत्यारो का दिल पत्थर-सा क्यो रहता है? परतन्त्र हैं इसलिये। उन हत्यारो को काम, क्रोध, मोह आदि ने अपने वश मे इस प्रकार कर लिया है कि उन्हे कुछ सूझता नही।

आप लोगो मे से बहुत से भाई निर्मांसाहारी है। वे अपने मन मे सोचते है कि मांसाहारी ही पापी होते हैं। हम तो इस पाप से बचे हुये हैं। लोगो को दूसरे की बात

की कडी टीका सुनकर मजा आता है, पर जब उनके स्वार्थ के काम की कोई टीका करता है तब उनको अच्छी नहीं लगती । अच्छी लगे या न लगे, सच्चा आदमी तो गुण-दोष बतला ही देता है ।

जो केवल मांसाहारियों को ही पापी समझता है, उसे चाहिये कि पहले अपने थोकडे आदि खोल कर देखे कि उनमें कितने प्रकार के पाप बतलाये हैं । क्या उन पापो का करने वाला पापी न गिना जायगा ? जैन-शास्त्र में १८ प्रकार के पाप माने गये हैं, जैसे—झूठ, चोरी, व्यभिचार इत्यादि । जो इन पापों का सेवन करे और धर्मात्मा बनने की डींग मारे, क्या वह वास्तव में धर्मात्मा है ;

'नहीं ।'

जैन सिद्धान्त को यदि कोई ठण्डे मस्तिष्क से विचारे, ो पता चलेगा कि यह कैसा पूर्ण है । इसकी आदि से लेकर न्त तक की तमाम बातें ठीक उतरती है। हिसाब करने ाले बहुत मिलेंगे, पर आना पाई तक का हिसाब मिलाने ाले को क्या आप बडा बुद्धिमान न कहेगे ?

'कहेगे ।'

'पाप से बचना चाहिये', 'धर्म करना चाहिये', इस प्रकार बहुत से भाई कहते हैं, पर पापो से बचने का और धर्म करने का बहुत कम भाई विचार करते हैं । कई भाई कसाई को बुरा कहते है, पाप समझते हैं, पर स्वय जाल— साजी करने से बाज नहीं आते, कपट करने से नही चूकते ।

दूसरे पर दोष मढने में नहीं चूकते । गरीबों के गले दबाने में भय नहीं खाते । झूठे मुकद्दमे चलाने में शर्म नहीं लाते । बिल्कुल खोटी गवाहियां दिलाने में पैर पीछे नहीं रखते । दूसरे के धन को स्वाहा करने में ही नहीं हिचकते । पराई स्त्रियों पर खोटी नजर रखने में घृणा नहीं लाते । कहां तक कहें, ये पाप करते हैं, पर पापी कहलाने में अपनी तौहीन समझते हैं । कसाई, छुरी फेर कर कत्ल करता है पर ये कलम को चला कर ही कई बार कईयों की एक साथ हत्या कर डालते हैं । बेचारा कसाई हत्या करके हत्यारा कहलाता है, पर ये कई हत्यायें करके भी धर्मात्मा बने रहते हैं । ये लोग यह नही समझते कि जैसे हम फंसाते हैं, वैसे हम भी फंसाये जायेंगे । हम मारते हैं पर कभी हम भी मारे जायेंगे । आघात का प्रत्याघात हुये बिना न रहेगा ।

शास्त्र कहता है कि एक बार तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देख जाओ, फिर पता लग जायगा कि दूसरों का दुःख कैसा होता है ।

'आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ।'

आत्मा के तुल्य तमाम प्राणियों को देखने पर, दुःख-सुख की साक्षी तुम्हारा हृदय अपने आप देने लग जायगा । आपको शास्त्रों के देखने की जरूरत न रहेगी, सच्चिदानन्द अपने आप शास्त्र का सार समझ लेगा ।

मनुष्य को दूसरे के भले बुरे कामों की मालूम पड़ जाती है, पर उसमें स्वयं में कैसे कैसे भले-बुरे गुण हैं यह

बहुतों को मालूम नहीं पडता । उनको तो तभी मालूम पडता है, जब लोग उनके दोषों पर कुछ टीका टिप्पणी करते हैं । जो मनुष्य अपने दुर्गुणों की टीका देखकर उनको सुधारने की कोशिश करता है, वह भी बुद्धिमान गिना जाता है ।

अपनी आत्मा हिंसक को देखकर—शिकारी को देखकर उसे क्रूर, दुष्ट कहती है, पर अपनी आत्मा ने भी अनेक बार जीवों को मारा होगा, उन्हें कष्ट पहुंचाया होगा । इसलिए हे आत्मा ! अब तू शिकारी नहीं है, हिंसक नहीं है, यह तू समझ गया हो तो अब अज्ञान के जाल में मत पडना । ऐसी भावना कीजिये । इस भावना से आपकी आत्मा में अजीब शक्ति चमत्कृत होगी और आपको थोडे ही दिनों में आनन्द का अनुभव होने लगेगा । यह आनन्द, थोडे परिमाण में न मिलेगा, पर इतने परिमाण में मिलेगा कि आप उस आनन्द की भेंट दूसरों को भी कर सकोंगे । एक बात जरूर है, और वह यह कि यह भावना स्वार्थ की न हो । इस भावना में मुझे धन मिले, पुत्र मिले, स्वर्ग मिले, मैं इतना वैभवशाली बनूं, राजा बन जाऊं, बादशाह बन जाऊं ऐसी आकांक्षा न हो । भावना अपने स्वार्थ के लिये न हो, पर संसार की कल्याण कामना की हो । उसमें प्रार्थना की जाय कि :—

दयामय, ऐसी मति हो जाय ।

त्रिभुवन की कल्याण कामना दिन-दिन बढती जाय ।।टेक।।
और के सुख को सुख समझूं सुख का करूं उपाय ।
अपने सब दुःखों को सहलूं पर—दुख सहा नही जाय ।।१।।

भूला-भटका उलटी मति का, जो है जन समुदाय ।
उसे दिखाऊं सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय ॥२॥

जब आप ऐसी भावना करने लग जायेंगे, तब आपके आत्मा में अपूर्व जागृति होगी । आपका सच्चिदानन्द-रूप प्रकट हो जाएगा और मुस्कराते हुए घोषणा करोगे कि—

'मित्ती मे सव्व भूयेषु ।'[1]

अभी तो कई लोग परदेशों मे धन कमा लाते हैं और यहां (मारवाड में) आकर व्यर्थ की बातें किया करते हैं। पर उक्त घोषणा होने पर, क्या आप इस प्रकार निकम्मे बैठे रहेंगे ? उस समय आपको एक क्षण का विश्राम लेना भी औचित्य मे परे मालम होगा । उस समय आपके जीवन की वह धारा, जो प्रबल वेग से नीच स्वार्थों के गहन गह्वर में पतित हो रही है निःस्वार्थ मन्दाकिनी का रूप धारण कर, धराधाम पर शान्त गम्भीर गति से प्रवाहित होने लग जायगी । आपके जीवन की वह धारा, जो अभी ईर्ष्या, क्लेश, दुःख सन्ताप आदि के विषैले पौधों के बढाने में सहायक बनती है, उस समय प्रेम, हर्ष, आनन्द, सान्त्वना आदि की वल्लरियों को नव-पल्लवित करने में आधार-भूत होकर, अखिल विश्व के सब प्राणियों की गुप्त रूप से सेवा बजायेगी ।

आपको शास्त्र में 'धम्म सहाया' अर्थात् धर्म के अन्दर सहायता देने वाले कहा है । क्या गप्पें मारने वाले कभी

---

१ सब प्राणी मेरे मित्र हैं ।

धर्म के सहायक कहला सकते हैं ? धर्म के सहायक वे ही कहला सकते हैं जो स्वय धर्म–नियमो का पालन करते हैं तथा सच्चे हृदय से प्रेममयी भाषा मे दूसरो को उसका बोध कराते हैं ।

गप्प मारने वाले स्वय तो पाप बांधते ही हैं, पर दूसरो से भी बंधवाते हैं क्योंकि थोथी गप्पो मे दूसरो की निन्दा, दूसरो की चुगली और दूसरो की खोटा–चोखी ही का मुख्य विषय चलता रहता है । आज आपस मे फूट बढ़ रही है । इसका मुख्य कारण भी ऐसी अनावश्यक बातें ही हैं, जो गप्प कहलाती है । यदि आपको कुछ काम नहीं है, तो व्यर्थ की बातें मत करो, फिजूल गप्पें न उड़ाओ । इन बड़बड़ाहटो से आपकी आध्यात्मिक–शक्ति कम हो जाती है । अवकाश के समय मौन का अवलम्बन करो । मौन साधारण व्यक्ति को शक्तिमान पुरुष बना देता है । जब किसी एंजिन को शक्ति को काम मे लेना होता है, तब मशीन चलाने वाला कारीगर उस मशीन की शक्ति को संचित कर लेता है । बुद्धिमान भी उस एंजिन चलाने वाले कारीगर की तरह अपने मस्तिष्क की शक्तियां एकत्रित करके उन्हे रोका हुई रखता है तथा जब और जहा चाहिये, वही उनका उचित और सशक्त सम्पादन कर लेता है । बकझक करने वाले मे यह शक्ति नही होती ।

यदि व्यर्थ की बक-झक की टेव लोगो मे न होती, फिजूल की निन्दा करने का अभ्यास लोगो मे न होता, अकारण गप्पो के लिये लोग अपने अमूल्य समय का नाश न करते तो समाज मे दल–बन्दियां, धड़े और पार्टियां कभी नही दिखलाई देती ।

मैं पहले कह चुका हूं कि द्वेष फैलाना हिंसा में गिना गया है, अतएव द्वेष-बुद्धि छोड़ दीजिए। आप 'औरों के सुख को देखकर कभी न जलूंगा' इस मन्त्र का जाप कीजिए, पवित्र बन जायेंगे। आप चाहे वेद सुनें, पुराण सुनें या कोई धर्म-शास्त्र सुनें, सब में यही बात सार है।

कई भाई कह सकते हैं कि दूसरो के सुख से हमें क्या फायदा? किन्तु आप इस भेद के पर्दे को उठा डालिये, फिर देखिये क्या आनन्द आता है। आप यदि इस पर्दे को उठा देंगे तो ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे।

मैं जानूं हरि दूर है, हरि है हिरदा मांय।
आडी टाटी कपट की, ताते सूझत नाय॥

(कबीर)

परमात्मा तो फरमाते हैं कि 'हृदय शुद्ध करो, विश्वास रखो, तत्क्षण आत्म-दर्शन पा जाओगे। इसके विना उसकी भेंट के लिए भटकते ही रहो, पर कहीं न पाओगे।

हृदय-शुद्धि का उपाय वही है, जो मैंने ऊपर बतलाया है अर्थात् दूसरे के सुख को देख कर ईर्ष्या नहीं करना, किन्तु सन्तुष्ट होना, यही हृदय-शुद्धि का उपाय है।

मेरा अनुमान है, ऐसी हृदय-शुद्धि कई लोगो ने नहीं की। वे लोग करें कैसे? यदि किसी के मकान मे, सरकार मुफ्त में नल, बिजली या पंखे लगवा दे, तो वह अपने तईं धन्य समझता है और राजा की दृष्टि मे सबसे अधिक

सम्माननीय मैं ही हूं, ऐसा सोचकर वह सुख से फूलता है। किन्तु यदि कहीं राजा, मेहरबानी करके राव-रंक, धनी-गरीब, सब के घरों मे वही बिजली नल या पंखा बिना टेक्स लिए भेज दे, तो उस धनी को अपने अकेले को मिलने में जो सुख था, वह सुख अब उसे अनुभव नही होगा। फिर वह इस उपकार को उपेक्षा-दृष्टि से देखता है। कहता है कि-इसमे क्या है, यह तो सब के यहा है ? सब के घरों में लगने से इसके नल-पखे मे कोई खराबी नहीं आई है, जिससे इसके चित्त में रज हो। परन्तु इसके चित में दूसरे के सुख के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है। इसी से इसके हृदय में दु.ख हुआ। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सामग्रियों में सुख मानना भी केवल ईर्ष्यामात्र से था। औरो के पास ये सामग्रिया न होने से यह अपने मन में सुख मानता था। वही सामग्री दूसरों को मिलने से इसको बड़ा दुःख हुआ। अतः सिद्ध हुआ कि ईर्ष्या ही बड़ी है, नल पखे आदि नही। इस प्रकार की द्वेष-बुद्धि छोड़ दो और उपर्युक्त मन्त्र का जाप करो।

रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और पाडवों की स्तुति लोग क्यों करते हैं ? इसके विरुद्ध रावण, कस और कौरवों को लोग धिक्कार क्यो देते हैं ? इसलिये कि वे दूसरों के दुःख को अपना दुःख और दूसरों के सुख को अपना सुख समझते थे। स्मरण रहे-पांडव, रामचन्द्रादि वीर थे और वीरों से ही दया (अहिंसा) होती है। अहिंसा, क्षात्र-धर्म के बिना नही पाली जाती। बनियाशाही के हाथों में जब से अहिंसा आई है, तब से वह कायरों का चिह्न बन गई है। आप (ओसवाल) भाई किसी जमाने में क्षत्रिय थे। आपके अन्दर

क्षत्रियत्व का रक्त है। जितने तीर्थङ्कर हुए हैं वे सब क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुए हैं। यह धर्म (अहिंसा) कायरों का नहीं है।

अहिंसा-धर्म को समझने वालों में यह गुण होता है कि वे दूसरे के दुःख को अपना दुःख और दूसरे के सुख को अपना सुख समझते हैं। ऊपर जिन रामचन्द्र का नाम कहा है, उनके त्याग की बात सुनकर यह बात आप लोगों की समझ में आ जाएगी।

जिस समय महाराज दशरथ के लिए कैकयी को दिया हुआ वरदान पूरा करने का समय आया, तब पितृ आज्ञा-पालन करने, मातृभाव का आदर्श उपस्थित करने एव झगड़ा मिटाने के लिये अपने को मिलता हुआ राज्य छोड़ कर रामचन्द्रजी ने वन की ओर प्रस्थान कर दिया। इतना अपूर्व स्वार्थ-त्याग करके उन्होने जगत् को समझा दिया कि पिता की आज्ञा के पालन, बन्धु के प्रेम और स्वार्थ त्याग का क्या महत्व है! जो लोग ईर्ष्यालु हैं, वे इस बात को न समझने से ही इस सद्गुण के अधिकारी नहीं होते।

मित्रो! आप मे ऐसा भ्रातृ-प्रेम है? आज भाई-भाई छोटी-छोटी बात के लिये सिर फोड़ने को तैयार हो जाते हैं। कोर्ट तक मुकद्दमा चलता है। मैंने सुना कि बम्बई में दो भाइयों ने अपने धन का बराबर हिस्सा बांट लिया, पर बड़े भाई का बोया हुआ एक सुपारी का पेड़, छोटे भाई की जमीन के हिस्से में आ गया। बड़े भाई ने कहा 'मैंने इस पेड़ को बोया है, इससिए इस पेड पर मेरा हक

सांसारिक कार्य और अहिंसा

यह बात तो आप जानते ही है कि सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होना साधु का काम नहीं है। यह काम गृहस्थो का माना गया है। साधु उन कार्यों में इसलिए प्रवृत्त नहीं होते क्योंकि वे आरम्भयुक्त होते हैं। सच्चा साधु आरम्भ का कोई काम नहीं करता। शास्त्र में साधु को निरारम्भी कहा है। सासारिक कार्यों में धनादि का होना आवश्यक माना गया है। साधु, जब सासारिक कार्यों में हाथ डालना ही नही चाहता, तब वह पैसा आदि क्यों कर अपने पास रखेगा ? पैसा आदि पास न रखने से ही साधु को अपरिग्रही भी कहा है।

जिस प्रकार शास्त्र मे साधु को निरारम्भी, निष्परिग्रही कहा है, उसी प्रकार श्रावक-गृहस्थ को अल्पारम्भी, अल्प-परिग्रही कहा गया है। यहां गृहस्थ के साथ 'श्रावक' शब्द हमनें जान बूझ कर रखा है। कारण, गृहस्थाश्रम में रहनें वाला श्रावक अवश्य ही अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही होता है। तीसरा दर्जा महारम्भी महापरिग्रही का है, जो सांसारिक सुखों में सदैव मूछित रहता है और आरम्भ परिग्रह को ही

हैं। उत्तर में छोटा भाई बोला–'तुमने बोया तो क्या हुआ, यह मेरे हिस्से की जमीन पर है, इसलिए एक वर्ष सुपारी तुम लो और एक वर्ष हम।' बड़े भाई ने यह बात न मानी। आखिर, कोर्ट मे मुकदमा चला। लाखों रुपये खर्च हो गये। जज एक दिन उस पेड़ को देखने आये। देखकर कहा—'काट दो इस नाशकारी पेड को, जिसके कारण इतनी तकलीफ उठानी पड़ी। आखिर पेड़ काटा गया, तब जाकर कहीं उन भाइयों को शान्ति आई। सुपारी का पेड़ कटना उन्हें श्रेय लगा, परन्तु एक के पास रखने या आधा-आधा लेने के लिए वे राजी न हुए।

कहां यह भाइयों का नाशकारी मुकदमा और कहा राम का भाई के लिए राज्य ठुकरा देना।

यहां पर मोटी–मोटी बातों का थोड़े में दिग्दर्शन कराया है। हिंसा और अहिंसा का विषय महान् है। सम्पूर्णता से कहना, हमारी बुद्धि से परे की बात है। शास्त्र के अन्दर गणधरों ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, सद्गुरु के द्वारा उनके परिश्रम का लाभ लेना बड़ा सुख-दायी होगा।

हिंसा और अहिंसा के भेद इसलिए समझाये हैं कि जैसे जौहरी अपने लड़को को हीरा, माणिक, मोती की परीक्षा जिस समय बतलाये, उस समय उसे नकली हीरा, माणिक, मोती की परीक्षा भी बतला दे तो उसे बड़ा लाभ होता है। जब वह सामने रखे हुए हीरे, माणिक, मोती

छांट कर अलग रख दे, तब समझना चाहिए कि वह पूरा जौहरी बन गया। वह इनका व्यापार करे या न करे, यह बात जुदा है। पर यह तो निश्चय है कि व्यापार करना उसके लिये बड़ी बात नहीं है। इसी तरह जो हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को समदृष्टि के प्रताप से समझ पाया, उसके लिए बुरे की त्यागना कोई कठिन काम नहीं है।



अपने जीवन का सर्वस्व समझता है । अतएव वह महारम्भी और महापरिग्रही कहा जाता है ।

इससे आप यह मत समझिये कि श्रावक इहलौकिक सुख से वंचित रहता है या वंचित रहने के लिए उसे उपदेश दिया गया है । नहीं, श्रावक के लिए ऐसा नियम नही है । श्रावक इहलौकिक सुखों के लिए प्रयत्न करता है और सुख भी भोगता है, पर उसे अपने जीवन का उद्देश्य नहीं समझता । मिथ्यात्वी में और श्रावक में यही एक बडा भारी अन्तर है ।

दूसरा अन्तर यह है कि श्रावक को स्थूल हिंसा का सर्वथा त्यागी तो होना पडता ही है, जहा तक बन पडता है, सूक्ष्म की रक्षा का ध्यान रखता है । हां, पहला काम उसका स्थूल जीवों की रक्षा करना है । मिथ्या मे प्रायः यह बात नही होती । मौका पडने पर, वह नियम की हद के पार भी काम कर बैठता है ।

हमने ऊपर जिस श्रावक के गुण बतलाये हैं, वे विवेकी श्रावक के समझने चाहिए। केवल नामधारी आजकल के श्रावको में ये गुण कम देखे जाते है । सच्चे उपदेश के नही मानने से, या सच्चे उपदेश देने वालों का संयोग न मिलने से, उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? कर्तव्याकर्तव्य को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण ही बहुत से भाई कर्तव्य के पालन में ढीले दिखाई देते हैं । यह दोष, केवल उन भाइयो का ही है, ऐसा एकान्त नही, किन्तु उनको कर्तव्याकर्तव्य या सच्चा ज्ञान समझाने वाले सच्चे उपदेशक भी थोड़े मिलते हैं । मेरी

समझ में यह दोष उपदेशकों का भी है कि वे क्रमशः कर्तव्य पालने का उपदेश कम देते है, या शास्त्रो का यथार्थ मर्म कम समझाते हैं।

याद रखिये, जो साधु के सूक्ष्म कर्तव्यों का सर्व साधारण गृहस्थ से पालने को कहता है, वह उसे अपने मार्ग से च्युत करता है। कुछ लोगों ने गृहस्थ श्रावको के सिर पर स्थावर जीवो की रक्षा करने का भार इतना डाल दिया कि वे इसका विशेष ज्ञान न रखने से स्थूल हिंसा से भी न बच सके। गृहस्थ के लिये, मुख्य रूप से स्थूल हिंसा से बचने का विशेष आग्रह किया गया है। यदि स्थूल के सिवा सूक्ष्म (स्थावर) हिंसा से ही बचने का मुख्य कर्तव्य होता तो शास्त्र मे 'थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण' के बदले 'सुहुमाओ या सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण' व्रत श्रावक को बतलाते।

शास्त्रकार ने पानी के अन्दर—नही-नहीं पानी की एक बूंद के अन्दर असंख्यात जीव बतलाये हैं। अब कोई पानी का प्यासा आया; उसने पानी मागा। श्रावक ने पानी पिला दिया। कई भाई यहा कह बैठते हैं कि एक पचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए असख्या जीवो का नाश हो गया, इसका जवाबदार कौन ? पर हम शास्त्र मे जहां तीर्थङ्करो ने हिंसा का वर्णन किया है, वहां हम देखते हैं कि पचेन्द्रिय जीवों के सामने सूक्ष्म जीवों को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है क्योकि अल्पारम्भी के लिए ऐसे मार्ग का ग्रहण करना, प्रत्येक अवस्था में सुगम एवं कल्याण—जनक नहीं होता। पचेन्द्रिय यानें स्थूल जीवों का संसर्ग, उसे विशेषता

के साथ उस अवस्था में ले जाने के लिए समर्थ नहीं होता है कि जिसे निरारम्भी और निष्परिग्रही कहते हैं। विवेकी श्रावक गृहस्थ सूक्ष्म जीवों की हिंसा से नहीं बच सकता। पचेन्द्रिय जीवों के पोषणार्थ तथा स्वदेह निर्वाहार्थ जलादि पदार्थों का उपयोग करना उसके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा जब श्रावक इस तरह से जलादिक का संग्रह करके आरम्भी बन चुका और उसकी चेष्टा स्पष्ट रूप से उस पदार्थ को किसी भी प्रकार से इस रास्ते में व्यय करने की है, उस अवस्था में किसी को उस वस्तु का उपभोग करवा देने से उसे हिंसा का नया पाप लगा, यह कैसे समझा जा सकता है ? क्योंकि शास्त्रों में उल्लिखित जो अनुकम्पा का महत्त्व है, वह इस बात का समर्थक है कि निःस्वार्थ भाव से यदि अनुकम्पा की जाय तो वह कर्म-बन्धन से बांधने वाली नहीं है, अर्थात् इस तरह हिंसा का दोष एकान्त रूप से उस पर लागू नहीं होता। कोई व्यापारी किसी तरह का व्यापार करे और उसे उस व्यापार में हर तरह से खूब खर्चा भी करना पड़े, पर ऐसा करने से यदि वह बहुत अच्छा लाभ प्राप्त कर लेता है तो क्या वह किया हुआ खर्च कभी नुकसान में परिगणित किया जा सकता है ? नहीं। तो फिर किसी ने यदि जलादिक पदार्थ अपनी नाना प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए संग्रह कर रखा है और उससे अनुकम्पा रूपी एक महान् लाभ प्राप्त कर लेवे तो वह हिंसा में कैसे गिना जा सकता है ? हां, इस शास्त्रीय कथन के उच्च महत्त्व को वही समझ सकता है, जो निष्पक्ष-भाव से इसका मनन कर चुका हो।

साथ ही इस बात को भी नहीं भुलाया जा सकता

कि किसी गृहस्थ के लिए साधु द्वारा उक्त उपभोग्य वस्तुओ का देना वर्जित है, पर गृहस्थो द्वारा दिया जाना कही भी मना नहीं है क्योंकि शास्त्रो में गृहस्थ और साधु का कल्प एक नही है। गृहस्थ सचित्त जलादिक वस्तुओं का अपनी विविध आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से संग्रह करके रखता है और उसमें उसको हिंसा होती ही है तो उससे यदि वह अनुकम्पा रूपी महान् लाभ की प्राप्ति भी करले तो यह सर्वथा हिंसा मे कैसे गिना जा सकता है? इसलिये मनुष्य को, अनुकम्पा मे हिंसा का मिथ्या आभास मानकर, कभी भी अपने महान् कर्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिये। शास्त्रो मे कही भी अनुकम्पा को हिंसा में परिगणित नही किया है।

पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाले को नरक गति मिली, ऐसा पाठ पढने मे आया है, पर सूक्ष्य जीवो की हिंसा करने से भी मिली हो, ऐसा पाठ देखने मे नहीं आया। इस प्रश्न का विशेष खुलासा नेमिनाथजी के विवाह से कीजिये।

२१ तीर्थंकरो ने यह बात प्रसिद्ध की थी कि नेमिनाथ बाल-ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा लेंगे। शास्त्र-प्रसिद्ध होने से तथा नेमिनाथ स्वय तीनज्ञान के धारण करने वाले होने से, इस बात को जानते थे कि मैं बाल-ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा लूंगा, फिर उन्होने यह विवाह का नया आडम्बर क्यो स्वीकार किया? इसीलिए कि यादवो में महा-हिंसा घुस गई थी। उस हिंसा को दूर करने के लिए विवाह-प्रसंग को लेकर बाड़े में बधे हुए पशुओं को करुणा से छुड़ाया

और महात्याग का जगत् को प्रभाव बतलाया। यदि स्थावर जीवो की हिंसा, पचेन्द्रिय जीवो के सदृश ही होती तो भगवान् नेमिनाथ विवाह के प्रसंग पर स्नान की कुण्डी में बहुत जल इकट्ठा किया था, उस समय असख्य-जल-जीवो को देख कर कह देते कि 'मेरे स्नान के लिए असंख्य जीव मारे जाते हैं, इसीलिए यह हिंसा मुझे श्रेय नहीं है।' पर ऐसा कहे बिना ही स्नान करके हाथी पर विराजमान हो, ठाट-बाट के साथ बारात के जुलूस को साथ ले, उग्रसेन के महल पर गये। वहां बाडे में जीवों को देख कर, जगत् के जीवो को स्थूल जीवो की दया का माहात्म्य बताने के लिए सारथी से पूछा—

अह सो तत्थ निज्जंतो दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पिंजरेहिं च सन्निरुद्धे सुदुक्खिए॥

अर्थात्—ये सब सुख के अर्थ जीव, बाड़े और पिंजरे के अन्दर रोक कर किसलिए दुःखी किये गये हैं ?

अह सारही तओ भणइ एए भद्दाओ पाणिणो।
तुज्झ विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुजणं॥

सोऊण तस्स वयणं बहु पाणि विणासणं।
चिन्तइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिये हिउ॥

(उत्तराध्ययन)

सारथी ने उत्तर दिया—

इन सब सुख के अभिलाषी भद्र प्राणियों को तुम्हारे विवाह के कार्यों में बहुत जनो को भोजन देने के लिए इकट्ठा किया गया है।

सारथी के वचन को सुनकर महा प्रज्ञावान्, जीवों के हितेच्छु नेमिनाथजी विचार करने लगे—

जइ मज्झ कारणा एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं निस्सेसं, परलोए भविस्सइ॥

यदि मेरे विवाह के निमित्त बहुत प्राणी मारे जाते हैं, तो यह हिंसा मुझे परलोक में शान्तिदायिनी न होगी।

श्री नेमिनाथजी के अभिप्राय से, सारथी द्वारा सब जीव छोड़ दिये गए, तब उन्होंने कुण्डल आदि सब आभूषण उतार कर उस सारथी को इनाम मे दे दिये।

अब विचार करने की बात यह है कि बहुत जीव उस जल की कुण्डी में थे या उस वाडे में? उत्तर यह होता है कि सूक्ष्म जीवो की सख्या से तो जल की कुण्डी में असंख्य जन्तु तथा अन्य जीवो की अपेक्षा से अनन्त जीव थे, परन्तु वाड़े में तो गिनती के ही पशु-पक्षी थे। वुद्धि-पूर्वक समझना चाहिये कि यदि एकेन्द्रिय जीवो की रक्षा का, पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा के बराबर माहात्म्य होता तो भगवान नेमिनाथजी अपने स्नान करने के समय ही यह बात कहते कि यह बहुत प्राणियो की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी। वहा तो ऐसा कुछ भी न कहकर पशु-पक्षियो के

बाड़े के सामने ही ऐसा कथन किया कि—'यह बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदात्री न होगी ।' इससे स्पष्ट रीति से यह बात मालम पड़ती है कि पंचेन्द्रिय की रक्षा महारक्षा है । नेमिनाथजी ने अपने प्रत्यक्ष में पशु-पक्षियो को छुड़ाकर उदाहरण उपस्थित किया है ।

कोई तर्क कर सकता है कि—'पचेन्द्रिय की रक्षा में एकेन्द्रिय जीव मारे जांय, तो एकेन्द्रिय जीवो की सख्या बहुत होने से पचेन्द्रिय की रक्षा की अपेक्षा एकेन्द्रिय के आरम्भ का पाप ज्यादा होगा ।' यह कहना सर्वथा मिथ्या है । अगर ऐसा होता तो उस जीवदया को प्रकट करने के लिये स्नान आदि का आरम्भ और वारात जोडने का आडम्बर नेमिनाथ भगवान् कभी स्वीकार नहीं करते ।

आजकल आप लोगो मे कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में बड़ी गैर-समझ फैल रही है । अमृतलाल भाई कहते थे कि एक प्रसूता बाई को प्यास लगी । उसने एक श्राविका बहन मे पीने के लिये पानी मागा, पर उसने इसलिए नहीं दिया कि पानी देने से तेले का दण्ड आता है । इस बहन ने यह तेले का दण्ड किस में से निकाला, यह हमारी समझ में नहीं आया । अमेरिका वाले यहां आकर हमारे भाइयो पर दया करें, पर हम अपने भाई–बहनो के प्रति तिरस्कार करें, यह कहां का न्याय है ? मनुष्य, पशु पर दया और छोटे-छोटे जीवो को बचाने की कोशिश करें, पर मनुष्य के प्राण जाते हों, उस तरफ कुछ भी ध्यान न दें, यह कितनी भारी नासमझी है ! साधु को तो छःकाया की हिंसा का त्याग है, पर आपको नहीं है । फिर सूक्ष्म जीवो की ओट में आप

अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाते हो, क्या यह उचित है ?

दुनिया में ऐसा कोई आरम्भ का काम नहीं, जिससे कर्मबन्धन न होता हो। काम को ज्ञानपूर्वक विवेक-सहित करने से पाप-बन्ध कम होता है और अज्ञानपूर्वक करने से भयङ्कर पाप-बन्ध हो सकता है।

कई भाई विचारते होंगे कि रोटी बनाने वाली बहिन पाप से नहीं बच सकती। मैं कहता हूं कि वह पाप से बहुतांश में बचती हुई पुण्य प्रकृति का बन्धन भी कर सकती है। आप कहेंगे—'कैसे ?' इसका उत्तर है 'जो बहिन रसोई करने को अपने पर आया हुआ कर्त्तव्य समझती है कि इस रोटी से बहुतो की आत्मा को शान्ति मिलेगी, अपने को मजदूरनी न समझ कर जयणापूर्वक लकड़ियों को, कण्डों को और चल्हे को साफ करती हुई जीवो को बचाती हुई जो रसोई करती है वह पाप-प्रकृति में भी पुण्य-प्रकृति बांधती है। पर जो अपने को मजदूरनी समझ कर वेपरवाही से रसोई करती है और भोजन करने वालो को राक्षस समझती है, वह बहन पाप प्रकृति मे और पाप-प्रकृति बांध लेती है।'

बहुत-सी बहनें रसोई न करने अपने को पाप से बची हुई समझती हैं पर मैं कहता हू कि उनका यह खयाल एकान्त यथार्थ नहीं है।

आज की बहुत सी बहिनो का जीवन आलस्यमय वन गया है। वे शास्त्र के वास्तविक अर्थ को स्वयं तो कुछ

समझती नहीं और न समझने की कोशिश ही करती हैं। शास्त्र में कहा क्या है और ये काम में किस ढंग से लाती हैं! वे हम लोगों (साधुओं) के पास से घट्टी न फेरने की, पानी न लाने की, रसोई न बनाने की सौगन्ध लेती हैं। वे समझती हैं कि ऐसा करने से हम पाप से बच जायंगी, पर इन बाइयों को इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि आटा खाना पड़ेगा, पानी पीना पड़ेगा और रोटी भी जीमनी पड़ेगी ही, फिर पाप से कैसे अलग रह सकेंगी ?

आज की बहिनों के लिये रसोइया चाहिये। पानी लाने वाला चाहिये, आटा सीधा मोल आना चाहिये। ये तो सिर्फ गहने पहन कर आलस्यमय जीवन बिताने में ही अपनी शान समझती हैं। कैसी उल्टी समझ! ये बहिनें यह नहीं सोचती कि विवेक-सहित रसोई करने में, पानी लाने में, आटा पीसने में जितनी हम जयणा कर सकती हैं, उतनी मजदूर या मजदूरनी कभी नहीं कर सकते।

आजकल के नौकरों की बे-परवाही प्रसिद्ध है। रसोई करने वाले नौकर द्वारा, कई बार पाटे में जीव हैं या नहीं, इसका कुछ भी ध्यान न रख अन्धा-धुन्धी से आग जला रसोई बनाकर रख दी जाती है। कई पानी वाले भी मालिक पानी मंगवाता है कुए का और वे आलस्य से नल से ही ले आते हैं। कुएं पर जाते भी हैं तो कुछ छाना, कुछ न छाना पानी ले आते हैं। यही दोष कई घट्टी पीसने वालियों में भी समझ लीजिये। क्या जितनी चिन्ता जीव बचाने की आप लोगों को होती है, इनको हो सकती है? 'कभी नहीं।'

बहुधा गेहूं आदि के साथ अन्य सैकड़ों प्राणी भी पीस लिये जाते हैं ।

भाइयो, जरा विचार कीजिये कि यह सब पाप किसके जिम्मे आएगा ? कई लोगों ने समझ रखा है कि दूसरे से काम कराने में पाप से बचेंगे और ऐसा करना पुण्य-कर्म समझ रखा है, पर इससे तो उल्टा अधिक पाप लगने की ही सम्भावना है ।

सुना जाता है कि आजकल लोगो की प्रवृत्ति 'फ्लोर मिल' (आटा पीसने की चक्की) में आटा पिसाने की ओर बहुत बढ रही है । याद रखिये, इन मिलो में आटा पिसाने में गेहुओ का सार (पौष्टिक तत्त्व) जल जाता है । दूसरी बात यह है कि घट्टी में आटा पिसाना और इस मिल मे पिसवाना, इसमे जो पाप होता है, उसमे भी बडा भारी अन्तर होता है । थोड़ी देर के लिए मान लीजिये कि आपने अपने सेर, दो सेर या पाच सेर जितना भी आटा पीसा, सिर्फ उसी का जितना पाप लगना होगा--लगेगा, पर आप जब गिरनी (मिल) मे आटा पिसवायेंगे, तब चाहे एक सेर पिसवाया हो या एक मन, परन्तु सारी गिरनी मे जो महान् आरम्भ होता है, उसकी क्रिया आपको लगेगी । इसके सिवा—मास और मछली बेचने वाले गेहूं खरीद कर उसी टोपली मे गेहूं ले आते हैं और उसी गिरमी मे पिसवा ले जाते हैं जिसमे श्रावक लोक पिसवाते है । अब उनके गेहुओं का सस्कार इन पर कैसा पड़ेगा ? यह बुद्धिमानों को सोचना चाहिये ।

आलस्य के कारण, धर्म की ओट मे जो आटा पीसने

का त्याग ले लेती हैं और धर्मिणी बन बैठती हैं, उसे मैं तो तब धर्मिणी समझूं, जब वह गृहस्थी से निकल कर सर्वारम्भ का ही त्याग ले ले।

मैं बम्बई के पास एक ग्राम मे था। तब कुछ काठियावाड़ी बहिनें दर्शन करने आईं। उनमें एक बूढी वहिन भी थी। बात चलने पर मैंने उनसे कहा—'गिरनी में पिसा हुआ आटा तो अब आप नहीं खाती हैं न? क्योंकि इसमें भारी क्रिया लगती है।'

बूढी बोली—'ए आटो खावामा मारो तो मन नथी मानतो, पर ए म्हारी वहुओ कहे छे के— अमो बम्बईनी सेठाणिओ थई, हवे हाथथी पीसवो ए सारुं नथी।'

मैं—'ठीक, ए वेनो बम्बईनी सेठाणियो थई एटले पीसवानी दुःख तो बीजा ने आपी, ए दुःख थी मुक्त थई। पण तमे तो गृहस्थ छो, एटले ए घटिया करतां वधारे दुःख थाय छे, एवा कार्यो पण तमे हजू छोड़्या नथी जणाता। जेम के संतति प्रसव करवानुं दुःख, जे एक महादुःख गणाय छे—ते तमे छोड़ी दीधो के? ज्यारे ए काम तमे नथी छोड़ी शक्या तो घटिया पीसवाना दुःख ने लीधे, गिरणीनो भ्रष्ट अने महा आरम्भ थी पेदा थयेल आटो खावा थी तमारो पाप केम टले? अने सुधारो पण केम थयो गणाय?'

जो बाइया, सन्तति-प्रसव जैसे महान् कष्ट से दूर नही हो सकती है और सन्तान के लिये नही करने लायक अनेक अनुचित पाप भी करती हैं, वे वहिनें अपने खाने का

आटा पीसने का त्याग लेकर, गिरणी से या दूसरे से आटा पिसवा कर धर्मिणी बनना चाहती हैं तो यह उचित कैसे कहा जा सकता है ?

इसी तरह मारवाड की बहिनो को भी समझना उचित है कि मौज-शोक और आलस्य में जीवन बिता कर व्यावहारिक कामो का बोझा दूसरे पर डाल देना कि जिससे अल्पारम्भ के बदले महारम्भ पैदा हो और उसका खयाल न करके आप धर्मात्मा कहलावे, यह उचित नहीं है। धर्मात्मा स्त्री-पुरुष, आलस्य और दु.ख के मारे अपना बोझा दूसरे पर डाल कर धर्मात्मा बनने का ढोग नहीं रचा करते हैं।

भाइयो और बहनो ! आप लोग शास्त्रो को देखिये और समझिये। यदि स्वय मे इतनी शक्ति न हो कि उनके तत्त्व को समझ सकें, तो सद्गुरुओं से समझिये। जब आप शास्त्र-तत्त्व को समझ लेंगे और यह जान जायेंगे कि किस क्रिया के करने से पुण्य तथा पाप होता है, तब पता लग जायेगा कि हमें क्या करना चाहिये। और उससे अनभिज्ञ रहने के कारण अभी क्या कर रहे हैं, इस ज्ञान के अभाव से लोग, केवल देखा-देखी अनुकरण करते हैं और अल्प-पाप मे भी महा-पाप मान कर विरोध करते हैं।

कई भाई सर्व-व्रती साधु मुनिराजों को आचार-विचार पालते हुये देख कर उनकी सूक्ष्म बातो का उसी माफिक अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। साधु किसी गृहस्थ को दान नही देते, इसलिए साधु के सिवा वे भी किसी को

न दें । साधु (गृहस्थ को अनेक क्रियाओ द्वारा उनका जीवन निर्वाह–रूप) परोपकार नही करते, वैसे हम भी न करे। या साधु जिन कामो को न करें, ऐसे परोपकार के कार्य मे भी पाप समझें । यह समझना शास्त्र-विधि के अनजानो का है क्योंकि सर्वव्रती मुनिराजो के आचार, कल्प और कल्प की मर्यादा अलग है और गृहस्थो की अलग । जैसे कि जिनकल्पी महात्मा अकेले रहते, मौन रखते, धर्मोपदेश नही देते, दूसरे साधुओ की वैयावच्च आदि कृत्य नही करते, यह उनका कल्प है । परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु जिनकल्पी की देखा देखी अनुकरण करके वैयावच्च करना, सघ की सेवा करना, परोपकार करना छोड़ दे, तो उसको निर्दयी कहा है । ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे मे—'आयाणुकम्पे नाम एगे नो पराणुकम्पे ।" अर्थात् 'कोई २ पुरुष अपने आत्मा की ही खान-पान से रक्षा करता है, परन्तु दूसरे की नहीं करता, उसे या तो जिनकल्पी या प्रत्येक बुद्ध या निर्दयी कहा है ।' शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि जिनकल्पी या प्रत्येक बुद्ध दूसरे की अन्न-पानी आदि से रक्षा न करे, यह उनके उत्कृष्ट उत्सर्ग मार्ग का कल्प है; परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु, साधु की, और गृहस्थ, गृहस्थ की अन्न–पानी आदि से अनुकम्पा न करे, तो वह निर्दयी कहा जाता है । वैसे ही साधु–महात्माओ को जिन--जिन कामो के करने का कल्प नहीं है, उन--उन कामो को मुनिराज का कल्प बतला कर, अगर श्रावक भी परोपकारादि छोड दे तो उसे भी निर्दय समझना चाहिये । इसलिये साधु की देखा-देखी परोपकार के काम गृहस्थ को छोड़ देना, विधि-मार्ग का अज्ञान है ।

साधुओ की भाव-शुचि अति उत्कृष्ट होने से स्नान

दंत-घावन आदि द्रव्य-शुचि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये शास्त्र-विधि से उन्हें नही कल्पती है । यह देखकर कोई भोला यह अर्थ निकाल ले कि जैसे साधु-महात्मा स्नान, दत-घावन आदि नही करते, यह उनको मर्यादा है, इसलिये श्रावकों को भो नही कल्पते, इसलिये नही करने चाहिये, यह श्रावक के कल्प से अनजानो का समझना है । क्योकि शास्त्रों मे, 'आनन्द' आदि श्रावको का आचार का कथन जहा चला है वहां स्नान की ओर दन्त घावन आदि की विधि का कथन है । परन्तु सदा करना कल्पता ही नही, ऐसा निषेध नहीं है । कोई मूर्खता से कहे कि श्रावक को दन्तधावन आद नहीं कल्पता तो समझना चाहिये कि वह शास्त्र व श्रावक--धर्म से अनजान है ।

शास्त्र मे गृहस्थाश्रम चलाने वाले श्रावक के लिये स्नान या दन्तधावन आदि बाह्य-शुचि का निषेध नहीं किया है, बल्कि अवधि का निषेध किया है । हा, स्नानादि को श्रावक बाह्य शुचि समझता है, किन्तु अन्तरग भाव शुचि यानि मोक्ष का साधन नही समझता । जैनेतर शास्त्रों में भी कई स्थानो पर स्नान को इसी रूप मे माना है । जो लोग, इस द्रव्य-भाव शुचि के भेद को न समझ कर गृहस्था-श्रम में रहते हुए गन्दे वस्त्रादि रख कर लोगो मे यह कहते है कि गन्दा रहना, स्नानादि न करना, यह हमारा श्रावक को आचार है, तो ऐसा कहने वाला जैन धर्म के श्रावक का मर्यादा का अनजान है और धर्म की घृणा पैदा करने रूप पाप का भागी है ।

साधु मुनिराजों की आचार-विधि, श्रावको से बिल्कुल

भिन्न है । अत: श्रावको के लिये, साधुओं की क्रिया पालने का कहीं आदेश नहीं है । यह बात मैं अपने मन से नही कह रहा हूं, शास्त्र देखने से आपको भी इस बात का पता लग जायगा ।

श्रावक को सोच समझ कर ही किसी बात का त्याग लेना चाहिये, देखा देखी नही । साधुओं का भी त्याग कराते समय श्रावक को वस्तु-स्थिति पर दृष्टि अवश्य डालनी चाहिए । यह नहीं कि जैसे कोई श्रावक बैठे-बैठे ही क्षणिक वैराग्य मे आकर सथारा लेने की इच्छा प्रकट करे और साधु वास्तविक स्थिति को न समझ कर त्याग करा दे । यदि श्रावक, इस प्रकार का साधु से त्याग ले और साधु उसे करा दे तो यह उनका बिल्कुल अज्ञान है । त्याग कराने वाल और लेने वाला को वस्तु-स्थिति और त्याग के महत्त्व का ज्ञान होना चाहिये । ज्ञान रख कर त्याग कराना शुद्ध त्याग है ।

मुनियो को अपनी विधि पालने के लिये, शास्त्र में वर्णित किसी उच्च साधु का अपना आदर्श मानना चाहिये । इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिय आनन्द आदि उच्च श्रावको के व्रत प्रत्याख्यान की विगत, शास्त्र मे श्रावको के आदर्श के लिये ही ली गई है । यदि ऐसा न होता तो इन लोगों का शास्त्र मे उल्लेख करने से क्या लाभ ?

आनन्द आदि उच्च श्रावको की दिनचर्या और उच्च नियमों के अनुकूल अपनी दिनचर्या न बिताने के ही कारण

लोगो की दिनचर्या और बर्ताव स्फूर्तिप्रद होने की जगह आलस्यमय हो गये हैं । यही कारण है कि यूरोप के मनुष्यो की औसत आयु ७० से ७५ है और भारतीयो की २० से २५ वर्ष तक की ही !

विचार कीजिये, इतना महदन्तर क्यो ? यूरोपियन वृद्ध होकर क्यो मरता है और भारतीय तरुण होने के पूर्व ही क्यो मर जाता है ? जिस आयु मे यूरोप निवासी उत्साही कार्यों मे लगने की उत्कंठा प्रदर्शित करते हैं, उस आयु में भारतीय मृत्यु की घड़ियां क्यो गिनने लगते हैं ? एक कारण है—उनका रहन-सहन, विधि-व्यवहार प्रायः नियमित और यहा वालो का प्रायः अनियमित ! भला अनियमित जीवन भी कोई जीवन है ?

मैंने ऊपर आपको अंधाधुंध अनुकरण न करने का कुछ दिग्दर्शन कराया । अब जरा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होने से अल्प पाप को महा-पाप समझ कर विरोध करते हैं, इस पर भी कुछ कह देना चाहता हू । दूर कहां जाऊ, आप खादी को ही लीजिये । लोग कहते हैं कि चर्खा गरन-गरन फिरता है, इससे वायुकाय का आरम्भ होता है और उससे कते हुये सूत से कपड़ा बुना जाता है, इससे भी आरम्भ होता है । यह बात यथार्थ है, पर विलायती (मैंचेस्टर आदि का) कपडा तो छहो काया की महान् हिंसा के द्वारा तैयार होता है, यह आपको मालूम है ?

वीतराग का मार्ग, जैसा कुछ ऊटपटांग बुद्धि वाले भाई समझते हैं, उससे निराला है । आज लोग आटे का

मांड लगा कर कपड़ा तैयार करके देने वाले रेगरों और वलाइयों को अछूत एवं घृणित कर्म करने वाले कहते और उनसे दूर रहते हैं; पर मिल के कपड़ों मे अक्सर चर्बी लगाई जाती है और वे महान हिंसा से तैयार किये जाते हैं। उन कपड़े के तैयार करने वालों को आप बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं और धनी-मानी कहकर उनका गौरव बढाते हैं। वे मिल के मालिक हैं न! चर्खे से सूत पैदा कर कपडे बनवाने में लोग पाप समझते है, किन्तु वुद्धिमान् और वीतराग के मार्ग को समझने वाला स्पष्ट जानता है कि हाथ के बने कपडों मे अल्पारम्भ है और मिल के बने कपड़ो में महारम्भ है।

आज के वुद्धिमानों ने शोध के साथ यह सिद्ध करके बतलाया है कि चर्खा सिफ पेट भरने का साधन ही नहीं, पर कितनी ही निकम्मी आदत छुडा देने वाला है और उसका यथार्थ मर्म जानने वाले को एकाग्रता प्राप्त करने का भी साधन है। चर्खा विधवाओ के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखो की भूख मिटाने वाला है, ऐसा आज के विद्वान् कहते हैं। देश की दरिद्रता मिटाने के लिए आज की बड़ी-बड़ी धन वाली नूतन वहिनें भी इसे कातती हैं। चर्खा आजकल का आविष्कार नही—वहुत पहले का है। इसका जिक्र जैन सिद्धान्तों की कथा में भी आया है। इस पर योग्य विचार कर्तव्याकर्तव्य का जानकार ही कर सकता है।

आज कर्त्तव्य के विपय में बडी उल्टी समझ हो रही है तभी तो लोग खेती को महापाप और दूसरे अनार्य कार्य को श्रेष्ठ समझते हैं। यह भी सुनने मे आया है

कि लोग बाजार से घी लाने मे अल्पारम्भ और घर पर गाय द्वारा घी पैदा करने में महारम्भ मान बैठे हैं पर खेती को जैन-शास्त्र में वैश्य-कर्म बतलाया गया है ।

उत्तराध्ययनजी के तीसरे अध्याय में, ऐसा कथन है कि चार अग आराधने वाला पुरुष स्वर्ग सुख का उपभोग कर उस घर मे जन्म लेता है, जहां दस बोल की योगवाई होती है । पहला बोल, 'खेत्तं वत्थु·····' अर्थात् सेतु व केतु ये दो प्रकार के धान्यादि निष्पत्ति के योग्य क्षेत्र हो यानि जिसमें जल के सीचने से पैदा हो, उसे सेतु कहते हैं और जिसमें वृष्टि के जल से धान्यादि निप्पन्न हो उसे केतु कहते हैं । वह पुण्यवान् पुरुष ऐसे ही गृहस्थ के घर जन्म लेता है । उस कथन से स्पष्ट है कि खेती निषिद्ध धन्धा नही, पर पुण्यवाले गृहस्थ की सम्पत्ति मानी गई है । उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वें अध्ययन में जहां वैश्य-कम का वर्णन है— 'वइसो कम्मुणा होई' इस पाठ की टीका में 'कृषि पशु-पालनादि भवति' लिखा है अर्थात् खेती करने व पशुओ की पालना करने से वैश्य कहलाता है । इसमे भी वैश्य का प्रधान कर्म कृषि करना लिखा है । भगवान् ऋषभदेवजी ने कर्म के तीन भेद बतलाये हैं—असि, मसि और कृषि । अर्थात् खेती करना भी प्रधान आजीविका के कर्म मे है । इन कथनो से मालूम होता है कि जैन-शास्त्र खेती को अनार्य-कर्म या अस्वाभाविक-कर्म नही कहते किन्तु इसमें आरम्भ अवश्यमेव मानते हैं ।

अब रही बाजार के घी की बात । जरा इस पर विचार कीजिये । क्या बाजार का घी आकाश से टपक पड़ा ?

'नहीं ।'

किसी न किसी ने तो गौओं की रक्षा की होगी, तभी घी मिला !

दूसरी बात, आजकल के घी में बहुत सम्मिश्रण होना सुना जाता है । कहा जाता है कि जिसे 'वेजीटेबल' घी कहते हैं, उसमे वास्तविक घी का बिल्कुल अंश नहीं है । वह न मालूम किन अप्राकृतिक ढङ्गो से बनाया जाता है । वह भारत मे बनने लग गया । सुना है, इसमें चर्बी का भी मिश्रण होता है ।

विदेशी घी, एक रुपये का जितना मिलता है, उतने देशी घी के लिये लगभग दो रुपये लगते हैं । जिस देश वाले इस भारत से हजारो मन मक्खन ले जावें, वे भारतीयो को सस्ता घी दें, यह कैसे सम्भव है ? इस घी में यदि सत्व हो यह भारतीय घी से अच्छा हो, तो वे यहा से महगा घी ले जाकर वहा से सस्ता क्यो भेजें ?

आप अहिंसावादी होने का दावा करते हैं तो अहिंसा का सच्चा अर्थ समझिये । अहिंसक कहलाने वाले कई भाई अहिंसा का वास्तविक अर्थ न जानने से कई बार ऐसे काम कर बैठते हैं कि अन्य धर्मावलम्बी बन्धु उनके कार्यों को देखकर हंसी उड़ाते हैं । वे जैन-धर्म को लजाते हैं ।

हिंसा-अहिंसा का रूप न समझने के कारण ही कई श्रावक चींटी मर जाने पर जितना अफसोस जाहिर करते हैं, उतना ही मनुष्य पर अत्याचार या मिथ्या बर्ताव करने में पश्चात्ताप नहीं करते ।

यह बात हृदय में अंकित कर लीजिये कि अत्याचार करना जैसे मानसिक दौर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय में जलते हुए, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य है। परन्तु वास्तविक शान्ति धारण कर लेना यह मानसिक उच्चता और उन्नत धर्म है। जैसे कोई दुराचारी पुरुष किसी धर्मशीला स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस शरण में आई हुई बहन को कायर बन कर शरण नही देता और भागता है तो ये दोनो मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले हैं। एक क्रूरपन से और दूसरा कायरपन से। आज यह बात दिखाई पड़ती है कि बहुत से जैनी भाई कायरता को ही अहिंसा मान बैठे हैं। इसकी वजह से कर्तव्य से पराङ्मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक से दिखाई देते हैं। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का फल है। वास्तविक अहिंसा कायरों का धर्म नही, किन्तु सच्चे वीरों का धर्म है।

'सुधा' नामक पत्रिका में अहिंसा पर एक आलोचनात्मक लेख पढा था। उसमें लेखक ने गीता के—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !

इस श्लोक में जो 'अनार्य' शब्द आया है उसका अर्थ—'जैन' या 'बौद्ध' किया है। शायद उसने जैनो की सच्ची दया को न समझकर, आज के जैनों की अकर्मण्यता और दौर्बल्य देखकर, यह आक्षेप कर दिया है पर यदि लेखक, जैन लोगों की अहिंसा को लिखने के पहले शास्त्रों का अवलोकन कर विचारपूर्वक लिखता तो मेरा अनुमान है कि ऐसा

लिखने का कभी साहस न करता ।

जैनों की अहिंसा, अनार्यों की नहीं, वीर आर्यों की है । सच्चा जैन, काम पड़ने पर रण संग्राम में जाने से भी नहीं हिचकता । हां, वह इस बात का जरूर खयाल रखता है कि मैं अन्याय का भागी न बन जाऊं, मुझ से व्यर्थ की हिंसा न हो जाय ।

अहिंसा कायर बनाती है या कायरों की है, यह बात अहिंसा के वास्तविक गुण को न समझने वाले ही कह सकते हैं । अहिंसा-व्रत वीर शिरोमणि ही धारण कर सकता है । कायर अहिंसाधारी नही कहला सकते । वे अपनी कायरता छिपाने के लिये भले ही अहिंसा का ढोंग रच ले, पर उन्हे अहिंसक कहना योग्य नहीं कहा जा सकता । वैसे तो सच्चा अहिंसावादी व्यर्थ मे एक चींटी के प्राण हरण करने में भी थर्रा जायगा, क्योंकि यह संकल्पजा हिंसा है । इस कृत्य को वह व्रत-भग का कारण समझता है, पर जब न्याय से रण-संग्राम में जाने का मौका आ पड़े तो वह संग्राम करता हुआ भी अपने व्रत को अखण्डित रख सकता है ।

जो सकलपजा हिंसा करता है, उसे पापी अधर्मी के नाम से पुकारते हैं, पर जो आरम्भ-जनित हिंसा करता है, उसे आरम्भी कहते है, परन्तु अकृत्य करने वाला, पापी या अधर्मी नहीं कहते ।

भाइयो ! अब आप लोग समझ गये होंगे कि जैन धर्म की अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है कि संसार-कार्य मे बाधक हो । वह इतनी विस्तृत है कि बड़े-बड़े राजा महाराजा

भी धारण कर सकते हैं और उनके व्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आ सकती। जैन-अहिंसा यदि संकुचित होती और संसार-कार्य में बाधक होती तो पूर्व के राजा-महाराजा इस धर्म को कैसे धारण करते ?

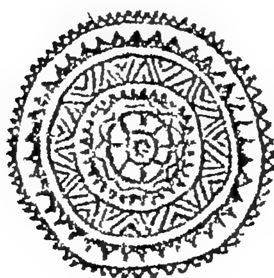
मैं पहले कह चुका हूं कि श्रावक संकल्पजा हिंसा का त्यागी होता है और आरम्भजा का आगार रखता है। वह संकल्पजा हिंसा को न छोड़ कर, आरम्भज हिंसा को ही प्रथम छोडने का प्रयत्न करे, ऐसा कभी नही हो सकता। जैसे धोती को छोड कर कोई मनुष्य पगड़ी का रखता है तो वह नादान गिना जाता है, वैसे ही जो आरम्भजा को छोड कर संकल्पजा हिंसा करता है, वह भी ऐसा ही नादान है।

आप लोगों को अहिंसा का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय, इसलिये अब एक मोटी बात और कह देता हूं।

अहिंसा एक सात्विक धर्म है। इसके पालने वाले को तीन श्रेणियो में माना गया है। सात्विक वृत्ति वाले, राजस वृत्ति वाले और तामस वृत्ति वाले। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन, वीतराग पुरुष ही कर सकते हैं। इसके अलावा जो सात्विक वृत्ति वाले मुनिगण हैं, वे भी सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी है। जो राजस वृत्ति वाले अहिंसा धर्म के पालक हैं, वे जानबूझकर तो हिंसा नहीं करते हैं किन्तु अन्याय का प्रतिकार करने के लिये, सेना-सन्धान करना भी अनुचित नहीं मानते। ये मध्यम कोटि के अहिंसा-धर्म के पालक है। इसमें श्रावक, समदृष्टि, न्यायप्रिय और वीर पुरुषों का

समावेश है। तीसरे तामसी वृत्तिवाले भी अहिंसा-धर्म के पालन का दावा करते हैं परन्तु ऐसे प्राणियो द्वारा वास्तविक अहिंसा नही पाली जा सकती । वे केवल 'अहिंसा-पालक' नामधारी हैं, अहिंसा का सच्चा स्वरूप समझते ही नहीं । वे लोग अपनी मां-बहन की बेइज्जती होते देखकर हृदय में तो बहुत क्रोध लाते हैं किन्तु 'कही मर न जाऊं', इस भय से चुप्पी साधे रहते हैं । जब कोई उनके इस मौन का कारण पूछता है तो कह देते हैं कि मैं अहिंसा-धर्म का पालक हूं । इसलिये अपने धर्म के पालने के लिये मैंने उसे दण्ड नहीं दिया और दयापूर्वक छोड़ दिया । इस तरह मन मे भय-भ्रान्त होकर ऊपर से अहिंसा की बातें बनाने वाले तामसी लोग अहिंसा का ढोंग मात्र रचते हैं ।

ऐसी वृत्ति रखकर अहिंसा का ढोंग करने वाला मनुष्य, कायर किंवा नपुंसक के समान है । वह संसार के लिये बोझ है । ऐसी वृत्ति वाला ढोंगी मनुष्य अपने आत्मा का अपमान करने वाला होने से, आत्मघातक आदि पापियों के समान हिंसक ही है, वास्तविक अहिंसक नहीं ।



अहिंसा–आचरण की शक्यता

बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को समझने के लिए हिंसा-अहिंसा को समझना चाहिए । अहिंसा के बिना संसार के समस्त प्राणियो का क्षण मात्र भी काम नही चल सकता । कहना चाहिये कि जगत् का अस्तित्व अहिंसा के आधार पर ही टिका हुआ है ।

कहा जा सकता है कि हिंसा के बिना भी कैसे काम चल सकता है ? तो मैं पूछता हूं कि तू हिंसा अपनी चाहता या दूसरों की ? अपनी नहीं चाहता है, दूसरों की चाहता है । अगर तू दूसरों की हिंसा चाहता है तो समझ ले कि तेरे लिये भी हिंसा तैयार है । यह तो गति की प्रत्यागति और आघात का प्रत्याघात है । अतएव अगर तू अपनी अहिंसा चाहता है तो दूसरों की हिंसा की भी चाह मत कर ।

तू दूसरों की हिंसा चाहता है तो जैसे तेरे लिये दूसरे, दूसरे है, उसी प्रकार दूसरो के लिये तू भी दूसरा है । क्या वे तेरी हिंसा नहीं चाहेंगे ? तू दूसरों की हिंसा करने में सकोच नही करेगा तो दूसरे तेरी हिंसा करने में क्यों सकोच करेंगे ? इस प्रकार ससार में मारामारी मच जायगी । घोर

अशान्ति और त्रास का दौर शुरू हो जायगा । अतएव यदि तू अपनी आत्मा को शान्ति पहुंचाना चाहता है तो तुझे अहिंसा की शरण में जाना चाहिये । दूसरे की हिंसा को अपनी हिंसा समझना चाहिये और दूसरे की दया को अपनी ही दया समझना चाहिये दया का बदला दया और हिंसा का बदला हिंसा है ।

कोई आदमी जंगल में जाकर कहे—'तेरा बाप चोर !' तो उसकी प्रतिध्वनि उसके कानों में आकर टकरायेगी—'तेरा बाप चोर !' अगर कोई कहे—'तेरा बाप धर्मात्मा' तो वही आवाज वापिस आएगा कि—'तेरा बाप धर्मात्मा !'

इस प्रकार प्रकृति जगत् के जीवों को बोध दे रही है कि हिंसा का बदला हिंसा और दया का बदला दया है ।

कहा जा सकता है कि आत्म-कल्याण और जगत्-कल्याण की दृष्टि से अहिंसा अच्छी चीज है, परन्तु जीवन यात्रा इतनी विकट है कि दूसरों को तकलीफ पहुंचाये बिना निभ नहीं सकता । अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किया जाय तो पल भर भी जीना कठिन हो जाय । फिर तो प्राण ही देने पड़ें । मगर प्राण देकर भी हिंसा से बचना संभव नहीं है, क्योंकि प्राण देना भी तो हिंसा है । इसे आप आत्महत्या कहते हैं । फिर अहिंसा को अमल मे कैसे लाया जाय ? इसका कोई उपाय भी है ?

इसका उत्तर मैं इस प्रकार देता हूं कि सर्व प्रथम यह निश्चय करो कि हिंसा और अहिंसा मे से कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है ? अगर आपको निश्चय हो गया है कि

अहिंसा कर्त्तव्य है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अहिंसा का पालन किस प्रकार किया जाय ? वह एकदम से पूर्ण नहीं होती है तो पूर्ण रूप से ही पालने के लिये कोई जोर नहीं देता ।

कल्पना कीजिये, एक आदमी को कोई बड़ा रोग हो गया है । वह एकदम नहीं जाता, परन्तु धीरे-धीरे मिटाया जा सकता है । तो क्या उसे धीरे–धीरे नहीं मिटाना चाहिये ? अवश्य उसे धीरे–धीरे दूर करना चाहिये और ऐसा ही किया भी जाता है ।

इसी प्रकार हिंसा आत्मा का बडा रोग है । वह दूर करने योग्य है । मगर वह यकायक दूर नहीं होती । वह शरीर के साथ ही जनमी हुई है । देह–धारियो से किसी न किसी प्रकार हिंसा हो ही जाती है । फिर भी उसे मिटाना है भले ही वह धीरे–धीरे मिटे ।

हिंसा के रोग से मुक्त होने के भगवान् ने दो मार्ग बतलाये हैं । एक अनगारधर्म और दूसरा अगारधर्म, जिन्हे क्रमश: साधु धर्म और श्रावकधर्म भी कहते हैं । इन दोनो उपायों से अहिंसा अमल में लाई जा सकती है ।

अनगारधर्म के भी अनेक भेद है, परन्तु यहां उनका कथन नहीं किया जायगा । आपके सामने गृहस्थ धर्म रखा जा रहा है—

२–हिंसा की त्यागविधि

सब व्रतो में पहला व्रत प्राणातिपात का त्याग करना

है। प्राणातिपात का अर्थ हिंसा है। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है। कहा भी है:—

थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ—
से पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-संकप्पओ य, आरंभओ य तत्थ समणोवासओ सकप्पओ जावजीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ।

थूलगपाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासएणं पच अइयारा जाणियव्वा। न समायरियव्वा। तंजहा— बंधे, वहे छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए त्ति।

(१) श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है।

(२) स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार का है-संकल्प से और आरंभ से।

(३) इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से, जिन्दगी भर के लिये हिंसा त्यागता है।

(४) आरंभ से नहीं।

(५) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार और भक्तपानविच्छेद।

शंका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है, तब भी सूक्ष्म हिंसा तो शेष रह ही जाती है। उसे भी क्यों नहीं त्याग देता ?

इसका समाधान यह है कि सूक्ष्म हिंसा का त्याग अवश्य शेष रह गया है, परन्तु यह उसकी कमजोरी है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की सूक्ष्म हिंसा से श्रमणोपासक निवृत्त नहीं हुआ है, इसको वह अपनी असमर्थता मानता है। वह इस हिंसा को भी हिंसा समझता है। अगर इस हिंसा को वह हिंसा न माने तो सम्यग्दृष्टि नहीं रह जाय, मिथ्यात्वी हो जाय। सम्पूर्ण जीवो की दया तो महाव्रत मे पाली जा सकती है। जिसमें इतनी शक्ति नहीं आई है, साधु बनने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह क्या करे ? क्या उसे अहिंसा के मार्ग पर दो-चार कदम भी नहीं बढना चाहिये ? इसलिए चरित्र के महाव्रत और अणुव्रत रूप दो भेद किये हैं। जो महाव्रतो का पालन नही कर सकते, उनके लिये अणुव्रत हैं। जिसकी जैसी रुचि और शक्ति हो उसे उतना ही चारित्र पालना चाहिये। यह नही कि पूर्ण चारित्र नही पल सकता तो देश-चारित्र भी न पाला जाय।

आपने एक दर्जी को बुलाया और उसके सामने कपड़े का थान रख दिया। वह आपसे पूछता है—मैं इसका क्या बनाऊ ? कोट बनादूं या लम्बी अगरखी ? आप उसे कोट बनाने को कहेंगे तो वह कोट बनाएगा। यदि वह ऐसा न करके अगरखी बना दे तो ऐसा करना उसका अकाम कहलाएगा।

इसी प्रकार जो पुरुष किसी सन्त-महात्मा के पास आकर कहता है कि मुझे गृहस्थ या श्रावक-धर्म धारण करा दीजिये, तो संत का कर्त्तव्य है कि वे उसे रुचि की

एव शक्ति के अनुसार ही धर्म धारण करावें और समझें कि अभी इसकी योग्यता इतनी ही है। जबर्दस्ती करके, उसकी शक्ति से बाहर, व्रत धारण कराना उचित नहीं। यही कारण है कि तीर्थङ्कर भगवान् ने हिंसा के स्थूल और सूक्ष्म भेद किये है।

३--हिंसा के भेद

जब श्रमणोपासक स्थूल हिंसा का त्याग करता है तो यह भी समझ लेना चाहिये कि स्थूल हिंसा किसे कहा गया है?

यहां स्थूलता दो अपेक्षाओं से बतलाई गई है—एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी लौकिक दृष्टि से। जिसको सर्वसाधारण लोग भी जीव कहते हैं, जिसकी हिंसा लोक में भी हिंसा कहलाती है, यानि सकल आबाल गोपाल–प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिक हिलते–चलते जो जीव हैं, उनकी हिंसा यहां स्थूल हिंसा कही गई है और उनकी अपेक्षा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव हैं। शास्त्र की दृष्टि से वे जीव माने गये हैं, परन्तु लोक में वे प्रायः जीव रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं क्योंकि मिट्टी खोदने वाले तथा लकड़ी काटने वाले पुरुष को कोई यह नहीं कहता कि यह हत्यारा है, इसने जीव को मारा है! अतः इस हिंसा को सूक्ष्म हिंसा कहा है।

परन्तु आजकल कई पुरुषों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण पर बराबर ध्यान रखते हुए सूक्ष्म पर ज्यादा जोर दे

दिया है और स्थूल हिंसा-अहिंसा की उपेक्षा कर दी है। इसी कारण आज लोगों मे यह भ्रम हो गया है कि सभी जीवो की हिंसा बराबर है। एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिंसा को बराबर—एक ही कोटि का समझना अज्ञान है। ज्ञानियों ने तो स्पष्ट से अलग-अलग भेद करके बतला दिये हैं। फिर जिसकी जैसी शक्ति हो, उसे उसी के अनुरूप अहिंसा का पालन करना चाहिये।

श्रमणोपासक उपर्युक्त स्थूल हिंसा से निवृत्त हो सकता है, सूक्ष्म से नहीं। हां वह सूक्ष्म हिंसा को भी हिंसा ही समझता है और उसके त्याग का अभिलाषी भी रहता है, परन्तु ससार व्यवहार मे फसा होने के कारण त्यागने में समर्थ नहीं हो पाता।

४—स्थूल प्राणातिपात

स्थूल जीवों के प्राणों का अतिपात करना स्थूल प्राणातिपाप कहलाता है। यहा प्राण शब्द से आयु, श्वासोच्छ्वास इन्द्रिय तथा योग का ग्रहण होता है। इन प्राणो से वियुक्त करना प्राणातिपात है। इसी को प्राणी की हिंसा कहते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि प्राणो के अतिपात को प्राणी की हिंसा क्यो कहा गया है? इसे तो प्राणहिंसा ही कहना चाहिये। प्राणी तो अमर है। उसकी हिंसा नहीं हो सकती।

इसका उत्तर यह है कि प्राण, प्राणी का ही होता है।

प्राणी के बिना प्राण नहीं रहता और प्राणी अमर है, इसीलिये तो उसकी हिंसा होती है। प्राणी अमर होता तो हिंसा का बदला भी कौन भोगता ?

मान लीजिये, एक आदमी के पास अंगूठी है। किसी ने उसे चुरा लिया तो बतलाइये कि वह चोरी किसकी कहलाएगी ? अगूठी की अथवा अगूठी वाले की ? यही कहा जाता है कि अगूठी वाले को चोरी हुई है। अगूठी जड है। वह चाहे असली स्वामी के पास है या चोर के पास, उसे कोई सुख-दुःख नहीं होता। दुःख होता है उसके असली स्वामी को। अतः यही माना जाता है कि अगूठी वाले की चोरी हुई है। इसी प्रकार कलदार के विषय मे समझिये। कलदार चुरा लिये जाते हैं तो कलदारवाला ही यह कहता है कि मेरी चोरी हो गई है। इसका कारण भी यही है कि उन कलदारो की चोरी से उसको दुःख का अनुभव होता है।

यही बात प्राणो की हिंसा के विषय मे है। प्राण उस प्राणी के हैं और उनका अतिपात करने से प्राणी को ही कष्ट होता है अतः अतिपात प्राणी की हिंसा कहलाता है।

यहां स्थूल का अर्थ विशालकाय हाथी, ऊंट आदि प्राणी ही नही, वरन् समस्त द्वीन्द्रिय आदि प्राणी हैं। चाहे कोई छोटे शरीर वाला ही क्यो न हो, फिर भी अगर वह चलता-फिरता है, धूप और छाया से बचने के लिये इधर-उधर जाता है स्वय भ्रमण करता है और अपनें दुःख को हरकतो से प्रकट करता है तथा कम से कम दो इन्द्रिय वाला है तो वह स्थूल प्राणी कहलाता है। श्रमणोपासक ऐसे स्थूल जीवो की हिंसा का त्याग कर देता है।

५—सूक्ष्म प्राणातिपात

कहा जा सकता है कि सूक्ष्म-बुद्धिगम्य सूक्ष्म जीवों को अर्थात् पृथ्वीकाय जलकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवों को न माना जाय और सहज ही समझ में आते हैं, ऐसे स्थूल जीवों को अर्थात् द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो को ही मान लिया जाय तो क्या वाधा है।

इस सबंध में पहली वात तो यही है कि जीवो का अस्तित्व हमारे मानने से हो और न मानने से न हो, ऐसा, नहीं कहा जा सकता। जो जीव है वह तो जीव ही रहेगा चाहे कोई उसे जीव माने अथवा न माने। जीव को जीव न मानने वाला, उसकी हिंसा करके जीव हिंसा के पाप का भागी होने से नही बच सकता। यही नहीं, वल्कि उसकी श्रद्धा विपरीत होने के कारण उसे मिथ्यात्व का भी पाप लगेगा। जब स्थावर जीव भी जीव हैं तो उन्हें न मानना योग्य कैसे हो सकता है?

दूसरी वात यह है कि जो स्थूल को मानता है किन्तु सूक्ष्म को नही मानता, उसका स्थूल को मानना भी नहीं टिक सकता। उसकी स्थूल की मान्यता भी नष्ट हो जायगी। कारण यह है कि स्थूलता और सूक्ष्मता परस्पर सापेक्ष है। स्थूलता की विद्यमानता में ही सूक्ष्मता है और सूक्ष्मता की विद्यमानता में ही स्थूलता है। एक न हो तो दूसरी भी नही हो सकती।

तीसरी वात यह है कि सारा संसार छोटी स्थिति पर टिका हुआ है। सूक्ष्म जीवो को माने विना ससार की

स्थिति कायम नहीं रह सकती। स्थूल जीव तो गिनती के हैं। मान लीजिये कि वे धीरे धीरे मोक्ष में चले जाएं तो एक दिन ऐसा आ जायगा कि संसार जीवशून्य हो जायगा। अतएव सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व माने बिना जगत् की अनादि-अनन्त स्थिति ही नही बन सकती। सूक्ष्म जीव अपना विकास करके स्थूल जीव बन जाते हैं। इन सूक्ष्म जीवों की गिनती नहीं है। वे अनन्त हैं। जब ऐसा मान लिया जाता है तो सब तत्त्व ठीक स्थिति पर रहते हैं। ससार के कभी जीव-रहित होने की सम्भावना नहीं रहती।

इन सूक्ष्म जीवो की हिसा को सूक्ष्म प्राणातिपात कहते हैं।

६-संकल्पजा और आरम्भजा-हिंसा

कहा जा सकता है कि स्थूल हिंसा का त्याग तो संसार छोड देने पर ही किया जा सकता है। गृहस्थो को तो अनेक ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिनमें त्रस जीवों का विघात होता है। दूकानदारी करना, हलचल मचाना, मकान बनवाना और भोजन बनाना आदि अनिवार्य कार्यों मे त्रस की हिंसा से बचा नहीं जा सकता। कीड़े-मकोड़े वगैरह मर ही जाते हैं। आपके सामने हिंसा का त्याग करें, और फिर उसका पालन न करें, यह तो दोहरे पाप में पड़ना है। ऐसी स्थिति में आप ही बतलाइये कि हम अहिंसा को किस प्रकार अमल में ला सकते हैं ?

यह कहना ठीक है, मगर आराधक की योग्यता देख कर ही धर्म की प्ररूपणा की जाती है। हम जानते हैं

कि सभी लोग साधु नहीं बन सकते । अतएव किसी को भी अहिंसा का पालन करने में अड़चन न हो, इस दृष्टि से शास्त्रों में अहिंसा भी दो प्रकार की बतलाई है— संकल्पजा और आरंभजा ।

मारने की बुद्धि से, समझ-बूझ कर, मांस, हड्डी, चमड़ी, नख, केश या दांत आदि के लिये प्राणी की हिंसा करना संकल्पजा हिंसा है ।

मकान बनवाने, पृथ्वी खोदने, हल जोतने आदि आरम्भ के कामों में जो त्रस हिंसा हो जाती है, वह आरंभजा हिंसा कहलाती है ।

आरंभजा हिंसा में हिंसा करने का संकल्प नहीं होता; अर्थात् जीव का घात करने की भावना नहीं होती, जब कि संकल्पजा हिंसा जीव का वध करने के विचार से ही की जा सकती है ।

मान लीजिये, एक आदमी निशाना लगाना सीखने के लिये गोली चलाता है और संयोगवश कोई आदमी उस गोली से मारा जाता है । तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है और वह दंड का पात्र भी समझा जाता है, परन्तु वैसा अपराधी और दंडपात्र नहीं जैसा कि मारने के इरादे से गोली मारने वाला । इस प्रकार यथासम्भव सावधानी रखते हुए भी, कार्य करते समय प्राणियों का मर जाना आरंभजा हिंसा कहलाता है ।

इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में से श्रमणोपासक संकल्पजा हिंसा का त्याग करता है। वह आरम्भजा हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर पाता है।

७—युद्ध की हिंसा

प्रश्न किया जा सकता है कि संग्राम में तलवार, धनुष, बदूक आदि शस्त्र-अस्त्र लेकर शत्रुओं का सामना करना पड़ता है और उन्हें मारना भी पडता है। अगर यह सकल्पजा हिंसा है तो कोई राजा, सेनापति या सैनिक व्रत-धारी श्रावक हो ही नहीं सकता। इसका उत्तर यह है कि जिनके ऊपर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, उन्हे अन्याय-अत्याचार का दमन भी करना पडता है। अन्याय-और भ्रष्टाचार का दमन करने के लिये अन्यायी और अत्याचारी का भी दमन करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा न करने से ससार में अशान्ति फैलाती है। अतएव अहिंसा व्रतधारी श्रावक भी ऐसे अवसर पर अपने उत्तरदायित्व से किनारा नहीं काटता। फिर भी उसका उद्देश्य शत्रु का सहार करना नहीं है, अन्याय-अत्याचार का ही संहार करना है। फिर भी जो हिंसा होती है, वह सापराधी की हिंसा है, उसे विरोधी हिंसा भी कहते हैं। श्रावक सापराधी को छोड़ निरपराधी की ही हिंसा का त्याग करता है।

अलबत्ता, ऐसे प्रसंग पर इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि मारा जाने वाला प्राणी सापराधी है या निरपराधी ? बहुत बार अपराधी के बदले निरपराधी को दण्ड दे दिया जाता है। श्रमणोपासक इस विषय में

बहुत सावधानी बरतेगा ।

आजकल की युद्धनीति के पीछे कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं है । आज निरपराध और साधारण का कोई निर्णय नहीं किया जाता । अपराध तो करता है एक आदमी या थोड़े आदमी, मगर बम बरसा दिये जाते है—समस्त नागरिको पर । इस बात का कोई विचार नही किया जाता कि आखिर उन बूढ़ो, बच्चो और महिलाओ का क्या अपराध है, जिन पर बमवर्षा की जा रही है और जिनके प्राण लूटे जा रहे हैं ? अपराधी को दण्ड देना दूसरी बात है, किन्तु उसका बहाना करके निरपराध प्रजा पर अत्याचार करना महान् अन्याय है ।

८—हिंसक प्राणियों की हिंसा

इस विषय मे एक प्रश्न और उठाया जा सकता है । कहा जा सकता है कि सिंह आदि प्राणी हिंसक है, उन्हें क्यों न मार डाला जाय ? इसका उत्तर यह है कि जो सिंह आपके ऊपर आक्रमण कर रहा है, उसकी बात तो अलग है, क्योंकि आप निरपराध की हिंसा के त्यागी है । सापराध की हिंसा आपने नही त्यागी है, परन्तु समग्र सिंह जाति को मार डालने का निर्णय कर लेना अन्याय है, अत्याचार है । विचार करो कि मनुष्य, मनुष्य की हिंसा ज्यादा करता है या सिंह ? मनुष्य को अधिक भय किससे है—मनुष्य से या सिंह से ? निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मनुष्य सिंह की अपेक्षा मनुष्य की अधिक हिंसा करता है और मनुष्य को मनुष्य से ही अधिक भय है । तो क्या

समग्र मनुष्य जाति को मार डालने का निर्णय किया जा सकता है ? नहीं, तो सिंह जाति के लिये ऐसा निर्णय क्यो किया जाय ?

इसके अतिरिक्त इस विशाल भूतल को मनुष्य जाति ने अपने लिये खरीद नही लिया है और न इसका ठेका ही ले रखा है। इस पर जैसे मनुष्य को रहने का अधिकार उसी प्रकार पशुओ को भी। फिर हिंसक होने के कारण अगर सिंह जाति का संहार करना उचित हो तो सिंह जाति की हिंसा करने वाली मनुष्य जाति का संहार भी क्यों उचित नहीं माना जायगा ?

कहा जाय कि मनुष्य, सिंह की अपेक्षा अधिक साधन-सपन्न है, अतएव वही सिंहो को मारने का अधिकारी है। यह तो 'जिस की लाठी उसकी भैस' नामक कहावत ही चरितार्थ हुई। निर्बल को मारने या सताने की परम्परा पशुओ से प्रारम्भ होगी तो वह रुकने वाली नही है। फिर तो सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को भी मार डालने पर उतारू हो जायगा और उसका ऐसा करना बुरा न समझा जायगा। इस प्रकार न्माययुक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर सिंह जैसे हिंसक प्राणियो की जाति का संहार करना भी उचित नही है।

सिंह एकान्त रूप से हिंसक ही होता है, यह समझना भी भूल है। कई-एक सिंह तो ऐसे उपकारी, दयालु और कृतज्ञ होते हैं कि जैसे मनुष्य भी नही होते। एंड्रूज कील नामक एक व्यक्ति का उदाहरण इतिहास मे मिलता है।

वह किसी का गुलाम था। उस समय रोम में गुलामों के साथ बहुत सख्ती की जाती थी। उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती। एड्रूज कील का मालिक भी उसे खूब सताता था। एक बार तग होकर वह वहां से भाग निकला और जगल मे चला गया। जंगल मे पहुचने पर उसे ख्याल आया कि अगर मैं पकडा गया तो मेरी और अधिक दुर्दशा होगी क्योकि भाग कर चला जाने वाला गुलाम बहुत गुनहगार समझा जाता था। उसे फौज भेज कर कहीं से मंगवाया जा सकता था। अतएव उसने अपने प्राण दे देने का विचार स्थिर कर लिया।

कील एक सिह की गुफा मे घुस गया। थोडी देर में बाहर से सिह आया। सिह के पैर मे काटा चुभा हुआ था। गुलाम सोच रहा था कि अपने मालिक के हाथों मारे जाने की अपेक्षा सिह के द्वारा मारा जाना कही अच्छा है।

परन्तु जहां अहिसा आ जाती है, वहां किसी प्रकार का वैर नहीं रहता। कहा भी है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थात्—जहां अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, वहा वैर नही रहता। अहिंसक के आसपास रहने वाले हिंसक प्राणी भी निर्वैर हो जाते हैं।

सिह गुलाम के पास आया और उसने पंजा उठा कर उसके सामने किया। मानो सिह कहता था कि मेरा कांटा

निकाल दे । गुलाम ने सोचा—मरते-मरते इसका कुछ उप-कार हो जाय तो अच्छा है । उसने सिंह का कांटा निकाल दिया । कांटा निकालते ही सिंह उसका पैर चाटने लगा ।

कील के मालिक को जब उसके भाग जाने का पता चला तो उसने फरियाद की । फौज दौडाई गई और आखिर कील पकड़ा गया ।

संयोगवश शिकार में वह सिंह भी पकड़ा गया और पिंजरे मे बन्द कर दिया गया । कील को अपने मालिक के साथ धोखा करने के अपराध में सिंह के सामने डाल देने का दंड दिया गया । कील को पता नहीं था कि यह वही सिंह है । वह जब पिंजरे की ओर ले जाया जा रहा था, तब सोच रहा था—मैं जंगल मे मरने के उद्देश्य से ही सिंह की गुफा में घुसा था परन्तु उस समय बच गया । अब यह अच्छा ही हुआ कि मैं सिंह के सामने पिंजरे में डाला जा रहा हूं । मेरे शरीर से सिंह का उपकार हो जायगा । सिंह मुझे लंबे समय तक के कष्टो से मुक्त कर देगा ।

आखिर गुलाम सिंह के पिंजरे में छोड दिया गया । सिंह उसे पहिचान गया । तीन दिन का भूखा होने पर भी उसने उसे नहीं खाया प्रत्युत पूर्व की भांति उसके पैर चाटने लगा । अनेक लोग कुतूहल-प्रेरित होकर वहा आये थे । वे यह हाल देखकर चकित रह गये ।

गुलाम फिर बादशाह के सामने पेश किया गया । बादशाह ने कहा—सच-सच कहो, बात क्या है ? मैं तुम्हारी

सब बातें सुनूंगा ।

गुलाम बोला—गरीब परवर ! मैं अपने मालिक को सिंह की अपेक्षा भी अधिक निर्दय समझता हूं । वह मुझे इतना अधिक त्रास देता था कि मैंने जिन्दा रहने की अपेक्षा मरना अधिक सुखकर समझा । यह कहकर उसने अपनी बीती बात बतलाई ।

गुलाम का वृत्तान्त सुनकर बादशाह को भी होश आया । उसी दिन गुलामों को न सताने का कानून बनाया गया और उस गुलाम का अपराध क्षमा कर दिया गया ।

कहने का आशय यह है कि समग्र सिंह जाति को मार डालना या मार डालने का विचार करना अनुचित है । प्रायः सिंह उसी हालत में मनुष्य पर हमला करता है जब उसको सताने या मारने की भावना मनुष्य के हृदय में हो और वह अपने आपको संकट मे पडा हुआ समझे । अगर आपका हृदय निर्वैर और निर्भय है तो सिंह के सामने से निकल जाने पर भी वह कुछ नहीं करता ।

कई लोग सर्प के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार की बातें कहते हैं परन्तु कई उदाहरणो से विदित होता है कि सर्प ने भी मनुष्य पर छत्रछाया की । माधवजी सिन्धे, पेशवा के नौकर थे । तब सर्प ने उनके ऊपर छत्रछाया की थी ।

साराश यह है कि कैसा भी प्राणी क्यो न हो, जहां तक उसके प्रति बुरे भाव न हों, वह हमला नही करता है । अतएव सब प्राणियो पर दया-भावना रखनी चाहिए । अगर इतना न हो तो कम से कम निरपराध जीव की हिंसा से तो बचना चाहिये ।

९–दया के लिए हिंसा

एक भाई ने शका की है कि जो प्राणी बहुत कष्ट में है, जिसकी बीमारी औषध करने पर भी नहीं मिट रही है; उसे कष्ट और वेदना से छुडाने के लिये शस्त्र के द्वारा या इजेक्शन आदि के द्वारा मारा दिया जाय तो क्या हानि है ?

इसका उत्तर यह है कि ऐसा करना ठीक नहीं। अगर किसी की माता या पिता को असाध्य रोग हो जाय और ऐसी स्थिति आ जाय कि सेवा-शुश्रूषा करने पर भी उन्हे शान्ति प्राप्त न हो तो क्या उन्हें मार देना कोई पुत्र पसंद करेगा ? नही। अगर माता–पिता, भाई आदि को इस प्रकार मार देना उचित नहीं समझा जाता तो वेचारे निर्वाक् मूक प्राणी के लिये ऐसा निर्णय कर लेना, कैसे उचित कहा जा सकता है ?

वस्तुतः ऐसा करना घोर अनर्थकारी है। इस प्रकार की परम्परा चल पडने पर बड़े-बडे अनर्थ होगे। लोग इस प्रकार की दया के वहाने, अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये, किसी अप्रिय जन को मार डालने लगेंगे।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक दशा मे यह निर्णय करना भी शक्य नही है कि अमुक रोगी वचेगा या नही ? कभी-कभी ऐसे रोगी भी बच जाते हैं, जिनके बचनें की कोई संभावना नही होती। कई घटनाएं तो ऐसी भी सुनी जाती हैं कि रोगी को मरा हुआ समझ कर दाह सस्कार के लिये श्मशान में ले जाया गया और वहा उसके शरीर में चेतना के चिह्न

नजर आने लगे'। वह फिर स्वस्थ हो गया और वर्षों जिन्दा रहा। ऐसी स्थिति मे कौन निश्चित रूप से कह सकता है कि अमुक रोगी बचेगा या नही ? आयु की प्रबलता होने पर जीव दुःसाध्य रोग से भी बच सकता है। अतएव रोग से व्याकुल और दुखी जीव को दयाभाव से प्रेरित होकर भी मार डालना उचित नही है।

१०–सहयोग और संघर्ष

सहयोग अहिंसा का पक्षपाती है, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि सहयोग की रक्षा के लिये सघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे अवसर पर महत्ता सहयोग की है, सघर्ष की नही। मगर लोग सहयोग को भूल कर सघर्ष को महत्त्व दे देते हैं। इसी कारण ससार मे आज अव्यवस्था फैली हुई है। संघर्षप्रिय लोग शास्त्रो की भी दुहाई देने लगते हैं और गीता के भी प्रमाण उपस्थित करते हैं। कहते हैं, गीता मे लिखा है—

तस्माद् युध्यस्व भारत।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने के लिए तैयार किया। बोले—अर्जुन, उठो, तैयार हो जाओ और युद्ध करो।

बहुत से जैन भाई भी चेटक और कोणिक के भीषण सग्राम का दृष्टान्त देते हैं और कहते हैं कि गणराज्य इस सघर्ष के पक्षपाती थे। अगर वे सघर्ष के पक्षपाती न होते तो युद्ध क्यो करते ?

इस प्रकार की बातो से बहुत से भाई चक्कर मे पड़

जाते है । परन्तु ऐसा समझना भूल है । श्रीकृष्ण या चेटक का ध्येय यह था कि सबल के द्वारा निर्बल सताया न जाय । न्याय की रक्षा के लिये चेटक को तलवार उठानी पड़ी थी अर्थात् सघर्ष को नीचा करने के लिये और सहयोग को महत्त्व देने के लिये उन्हे युद्ध करना पडा ।

जो लोग सघर्ष को उत्तेजित करने के लिये कृष्ण का दृष्टान्त देते हैं, उन्हे सोचना चाहिये कि यदि वे संघर्ष के पक्षपाती होते तो दुर्योधन के बिना बुलाये उसके घर क्यो जाते ? पाण्डवो को सिर्फ पाच गांव देने की शर्त पर संधि कराने का प्रयत्न क्यो करते (दुर्योधन के पास जाकर क्यो अपमान करवाते ?)

इसका अर्थ यही है कि उन्हे जो भी संघष करना पड़ा, वह सघर्ष को बढ़ाने के लिये नही, वरन् सहयोग की रक्षा के लिये करना पड़ा । जिस प्रकार सहयोग की रक्षा के लिये कभी कभी सघर्ष का आश्रय लेना पड़ता है, उसी प्रकार कभी-कभी श्रावक को सकल्पजा हिसा के त्याग के लिये आरभजा हिसा का आश्रय लेना पड़ता है । परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये कि आरंभजा हिसा से बचने के लिये सकल्पजा हिसा मे पड़ जाव । उदाहरण के लिये समझिये-आपको खुराक खाना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना आपकी जीवन-यात्रा नही चल सकती ! किन्तु यदि आरंभजा हिसा से बचने के लिये अनाज उत्पन्न करने की मात्रा को कम कर दिया जाय तो क्या होगा ? या तो मास भक्षण की शरण लेनी होगी या सथारा करना होगा !

अकाल में सथारा करना आत्महत्या है, क्योंकि

सतरह प्रकार के मरण में एक 'बोसट्ट मरण' भी गिना गया है, जिसका अर्थ है—अन्न-पानी के बिना बिलबिलाते हुए मर जाना। यह अकाम-मरण बतलाया गया है।

तो जब वनस्पति की मात्रा कम कर दी गई तो शेष क्या रहा? मांस। मांस संकल्पजा हिंसा के बिना उपलब्ध नहीं होता। अतएव श्रावक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका संकल्पजा हिंसा का त्याग टूटने न पावे।

जब कभी संकल्पजा हिंसा से बचने के लिये आरंभजा हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है, उस समय भी श्रावक का उद्देश्य हिंसा करना नहीं होता। कभी-कभी श्रावक को भी शस्त्र उठाना पड़ता है, वह भी गरीब और असहाय की रक्षा के लिये, नीति की रक्षा के लिये और अनीतिविरोध के लिए। इसी उद्देश्य से आततायियों को दण्ड भी देना पड़ता है। पर यह उस समय की बात है, जब आत्मबल से उपद्रव का दमन करने की शक्ति न हो। सहयोग को ध्यान में रखते हुए सब किया जाता है। ऐसा नहीं कि सहयोग को छोड़ दिया जाय और केवल संघर्ष ही का सहारा लिया जाय।

कोई कोई लोग समझते हैं कि हमारा काम तो शस्त्र से ही चलता है। शस्त्र अर्थात् संघर्ष की ही दुनियां मे पूजा होती है। मगर वे भ्रम में हैं। सहयोग की भावना के अभाव में संघर्ष सत्यानाश का कारण बन जाता है।

११—हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग

शंका की जा सकती है कि जब श्रावक दो करण

तीन योग से हिंसा का त्याग करता है और अनुमोदना करण को खुला रखता है तो साक्षात् जीव को मार कर, उसके अंगो से बने हुए पदार्थों का उपयोग कर सकता है या नहीं ? उदाहरणार्थ—पशुओं को मार कर उनकी चमड़ी से बनाये गये जूतो का और उनकी निकाली हुई चर्बी वाले वस्त्रों का उपयोग करने से उसका व्रत भग होता है या नहीं ?

इस विषय में मेरा यह कहना है कि दो करण, तीन योग से हिंसा का त्यागी श्रमणोपासक, चमडो और चर्बी के ही उद्देश्य से मारे गये प्राणी की चमडे से बने जूतों का और चर्बी से बने वस्त्रों का उपयोग नही कर सकता। वह इस प्रकार हिंसा करके तैयार की हुई किसी भी वस्तु को उपयोग में नहीं ला सकता। अगर वह उपयोग मे लाता है तो उसके दो करण, तीन योग से किया हुआ त्याग टूट जाता है। यह बात मैं अपने आत्मविश्वास से कहता हूं।

आप कहेंगे कि फिर अनुमोदना करण को खुला रखने से उसे क्या लाभ हुआ ? इसका उत्तर यद्यपि पहले आ चुका है, फिर भी यहां दोहराए देता हू। श्रावक के लिये वही अनुमोदना खुली है कि जब तक वह गृहस्थी में है तब तक उसे जांत-पांत वालो से संबंध रखना पड़ता है। जाति-विरादरी के जो लोग ऐसे जूते और कपडे पहनने वाले हैं, उनके साथ भी ससर्ग रखना पडता है। इस ससर्ग के कारण उसे उस पाप की किसी अ श में अनुमोदना लगती है।

मैं पूछता हूं, जो जानवर अपनी उम्र पूरी करके मरे

हैं, उनके चमड़े से बने जूते क्या नही मिलते ? और क्या त्रस जीवों का वध किये बिना ही बनने वाले कपड़ो की कमी है ? नहीं, ऐसा कुछ नही है । परन्तु जिनके दिल में उन बेचारे दीन पशुओं के प्रति दया भाव नही है, जिनसे तडक-भडक छोड़ी नही जाती, उन्हे इससे क्या मतलब है ? किसी प्राणी को चाहे जैसी यन्त्रणा दी जाय, कैसा भी कष्ट क्यो न पहुचाया जाय, उन्हे तो सीधी वस्तु चाहिए । पर उन्हे समझना चाहिए कि ऐसी हिंसाजनित वस्तुओ का उपयोग करने से कितनी भीषण हिंसा होती है, किस प्रकार की निर्दयता को प्रोत्साहन मिलता है ? उस भयानक हिंसा का विचार किया जायगा तो पता चलेगा कि ऐसी वस्तुओ को काम में लाने वाला श्रावक दो करण, तीन योग से हिंसा का त्यागी नही हो सकता ।

थोड़ा विचार करो कि आनन्द जैसे बुद्धिमान् श्रावक ने केवल सूत के ही वस्त्र क्यों रखे थे ? वह रेशमी वस्त्र रख लेते तो क्या हानि थी ? परन्तु वे अपने दो करण तीन योग से किये हुए त्याग मे किसी प्रकार की बाधा नही पडने देना चाहते थे । लेकिन आज आपको तड़क-भडक चाहिये । चमकदार रेशम चाहिये । मगर अपने त्याग का और रेशम के लिये होने वाली हिंसा का जरा विचार तो करो ।

सुना जाता है, एक गज रेशम तैयार करने में चालीस हजार कीडों की हत्या होती है । चालीस हजार कीड़ो को मारने से एक गज रेशम तैयार होता है । पर उन गरीबो की ओर कौन ध्यान दे ? वे किसके रिश्तेदार है ?

मुलायम–मुलायम सूती वस्त्रो के लिए भी आज घोर हिंसा हो रही है। अमेरिका के शिकागो नगर में चर्बी निकालने का बड़ा कारखाना है। वहां इतने पशु मारे जाते हैं कि दरवाजे के समान बड़ा नाला खून का बहता है परन्तु इस घोर हिंसा की ओर भी कौन दृष्टि देता है ? मित्रो, अगर आपको हिंसाजनित रेशमी और सूती वस्त्रों से ही प्रेम है और प्राणियों की दया आपके दिल में नहीं है तो फिर दो करण, तीन योग से हिंसा के त्याग का ढोंग क्यो करते हो ? अगर आपके दिल में दया उपजी है तो ऐसे वस्त्रो का उयोग करना छोड़ देना चाहिए।

यह ठीक है कि जूतों का त्याग करने से आपको कठिनाई होगी। यह भी तथ्य है कि आप वस्त्र मात्र का त्याग नही कर सकते किन्तु जो जूते और जो वस्त्र प्राणियों का वध किये बिना ही तैयार होते हैं, उन्ही का उपयोग करने और वधजनित वस्त्रों और जूतों का त्याग कर देने में क्या कठिनाई है ? श्रावको को ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए।

हाथी-दांत के लिए हाथियो की हिंसा की जाती है, फिर भी कई श्राविकाए उनका उपयोग करती हैं। उन्हे ऐसा करना शोभा नही देता। जब सोने–चादी की चूड़ियो से काम चल सकता है तो फिर हिंसा–वर्द्धक चीजों का उपयोग करने से क्या लाभ है ? क्यों व्यर्थ पाप का उपार्जन किया जाता है ?

बम्बई मे जो गायें भैसें ले जाई जाती हैं, उन्हे बहुत

कष्ट दिया जाता है। प्रथम तो वे इतने संकड़े स्थान में रखी जाती हैं कि इधर-उधर मुड़ भी नहीं सकतीं। जब वे व्याती हैं तो उनके बच्चे कसाई के हवाले कर दिये जाते हैं और नकली बच्चे उनके सामने रख दिये जाते हैं। बेचारे भोले जानवर उन्हें अपना बच्चा समझकर दूध देते रहते हैं। जब तक वह जानवर कमाई का साधन बना रहता है, अर्थात् खर्च से अधिक आमद देता रहता है, तब तक उसे रखा जाता है और दूध की कमी होने पर आमद कम और खर्च ज्यादा होने लगता है, तब उन्हे भी कसाई को सौंप दिया जाता है।

कसाई उन्हें खुले स्थान में ले जाता है, तो उन्हे कुछ आराम मालूम होता है पर थोड़ी ही देर में उनके चारों पैर बांध दिये जाते हैं और ऊपर से लट्ठों की मार मारी जाती है। मार पड़ने से उनका मांस ढीला और चमड़ा मोटा हो जाता है। इस प्रकार अत्यन्त क्रूरता के साथ उनके प्राण लिये जाते है और फिर उनका मांस और चमड़ा अलग-अलग किया जाता है।

कई बार जिन्दा जानवरो की ही खाल उतार ली जाती है क्योकि वह बाद में मुलायम रहती है। उससे जूते आदि मुलायम-मुलायम चीजें तैयार की जाती हैं।

भारतवर्ष मे पहले प्रायः अत्याचार नहीं होते थे। मुर्दा जानवरो का चमड़ा काम में लाया जाता था। मगर आजकल तो लाखों जानवरो का अत्यन्त क्रूरतापूर्वक वध किया जाता है। इस वध का उत्तरदायित्व क्या उन लोगों

पर भी नही आता जो इन हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग करते हैं ? क्या वे इस पापाचार को उत्तेजना नहीं दे रहे हैं ? अगर कोई ऐसी वस्तुओं का उपयोग करना छोड़ दे तो इतनी घोर हिंसा क्यों हो ?

जो लोग कहते हैं कि इस प्रकार की वस्तुओं का उपयोग करने पर भी श्रावक के दो करण, तीन योग से किये त्याग का भग नहीं होता, वे भूलते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि यदि कोई सीधा मांस लेकर खा ले तो उसका व्रत भग होगा या नही ? अगर भंग होता है तो चर्बी और चमड़ी का उपयोग करने से भी क्यों भग नही होगा ?

कई लोग कहते हैं कि यह वस्तु स्वतः मरे प्राणी की चमड़ी से बनी है अथवा इसके लिये प्राणी मारा गया है, यह निर्णय कैसे किया जाय ? मैं समझता हूं कि निर्णय होना कोई बड़ी बात नहीं है। फिर भी अगर निर्णय न हो तो संदिग्ध वस्तु का व्यवहार करना छोड़ देने पर भी कौन-सा काम अटक जाता है ? मौज शौक को भावना जरा कम कर दीजिये, फिर इस प्रकार की शकाए स्वतः शांत हो जाएंगी।

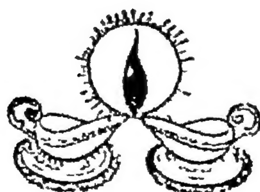
कई लोग कहते है, यह कत्लखाने और कारखाने हमारे लिए थोड़ी ही चलते हैं। हम उन चीजों को लेना बन्द कर देगें तो क्या वे बन्द हो जाएगे ?

मैं कहता हूं—कारखाने बंद हो जाए या चलें, इसकी चिंता छोड़ कर आप अपने को पाप का भागीदार न बनने देने का विचार करो। अगर सभी लोग ऐसी वस्तुओं का व्यवहार करना छोड़ दें तो अवश्य ही कारखाने बंद हो

जाएंगे। पर ऐसा नहीं होता तो भी आप तो उनका त्याग कर ही दो। ऐसा करने से आप व्यक्तिगत पाप से बच जाओगे।

मान लीजिये, किसी ने एक कत्लखाना खोला और ५) रुपये का शेयर रखा। अब आप उसके शेयर लें या न लें, कारखाना तो बन्द नही होगा। पर आप उसका शेयर खरीदेंगे तो आपको पाप लगेगा या नही? अवश्य लगेगा और अगर आप न खरीदेंगे तो पाप से बच जाएगे? व्यक्ति व्यक्ति से ही समष्टि बनती है। व्यक्तिगत पाप टल जायगा तो धीरे-धीरे समष्टिगत पाप टल जायगा।

इस प्रकार विचार कर जो अहिंसाधर्म का पालन करेंगे, वे ही कल्याण के पात्र होगे।



श्री जवाहर साहित्य के प्राप्ति स्थान

श्री जवाहर साहित्य समिति
भीनासर (बीकानेर-राज.)



श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर (राज.)



श्री जैन जवाहर मित्र मंडल

मेवाड़ीबाजार, ब्यावर [राज०]